मूल्य : आठ रुपये (8.00)

CHARITRA-NIRMAN (Self Improvements),
By Satyakam Vidyalankar

हर मनुष्य का अपना-अपना व्यक्तित्व है। वही मनुष्य की पहचान है। कोटि-कोटि मनुष्यो की भीड मे भी वह अपने निराले व्यक्तित्व के कारण पहचान लिया जाएगा। यही उसकी विशेषता है। यही उसका व्यक्तित्व है।

प्रकृति का यह नियम है कि एक मनुष्य की आकृति दूसरे से भिन्न है। आकृति का यह जन्मजात भेद आकृति तक ही सीमित नही है, उसके स्वभाव, सस्कार और उसकी प्रवृत्तियो मे भी वही असमानता रहती है।

इस असमानता मे ही सृष्टि का सौन्दर्य है। प्रकृति हर पल अपने को नये रूप मे सजाती है। हम इस प्रतिपल होनेवाले परिवर्तन को उसी तरह नही देख सकते जिस तरह हम एक गुलाब के फूल मे और दूसरे मे कोई अन्तर नही कर सकते। परिचित वस्तुओ मे ही हम इस भेद की पहचान आसानी से कर सकते हैं। यह हमारी दृष्टि का दोष है कि हमारी आखें सूक्ष्म भेद को और प्रकृति के सूक्ष्म परिवर्तनो को नही परख पाती।

मनुष्य-चरित्र को परखना भी बडा कठिन कार्य है, किन्तु असम्भव नही है। कठिन वह केवल इसलिए नही है कि उसमे विविध तत्त्वो का मिश्रण है बल्कि इसलिए भी है कि नित्य नई परिस्थितियो के आघात-प्रतिघात से वह बदलता रहता है। वह चेतन वस्तु है। परिवर्तन उसका स्वभाव है। प्रयोगशाला की परीक्षण-नली मे रखकर उसका विश्लेषण नही किया जा सकता। उसके विश्लेषण का प्रयत्न सदियो से हो रहा है। हजारो वर्ष पहले हमारे विचारको ने उसका विश्लेषण किया था। आज के मनोवैज्ञानिक भी इसीमे लगे हुए है। फिर भी यह नही कह सकते कि मनुष्य-चरित्र का कोई भी सतोषजनक विश्लेषण हो सका है।

इस पुस्तक का उद्देश्य चरित्र का विश्लेषण करना या विश्लेषण के परिणामो की आलोचना करना नही है। इसका प्रयोजन केवल चरित्र-निर्माण के उपायो पर इस रीति से प्रकाश डालना है कि व्यावहारिक जीवन मे उसका उपयोग हो सके।

—लेखक

क्रम

प्रवृत्तियों का संयम : चरित्र का आधार

अपने को पहचानो—'चरित्र' शब्द मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रकट करता है। 'अपने को पहचानो' शब्द का वही अर्थ है जो 'अपने चरित्र को पहचानो' का है। उपनिषदों ने जब कहा था 'आत्मा वारे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य, नान्यतोऽस्ति विजानत,' तब इसी दुर्बोध मनुष्य-चरित्र को पहचानने की प्रेरणा की थी। यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात ने भी पुकार-पुकारकर यही कहा था अपने को पहचानो।

विज्ञान ने मनुष्य-शरीर को पहचानने मे बहुत सफलता पाई है। किन्तु उसकी आतरिक प्रयोगशाला अभी तक एक गूढ रहस्य बनी हुई है। इस दीवार के अन्दर की मशीनरी किस तरह काम करती हैं, इस प्रश्न का उत्तर अभी तक अस्पष्ट कुहरे मे छिपा हुआ है। जो कुछ हम जानते हैं, वह केवल हमारी बुद्धि का अनुमान है। प्रामाणिक रूप से हम यह नही कह सकते कि यही सच है, इतना ही कहते है कि इससे अधिक स्पष्ट उत्तर हमे अपने प्रश्न का नही मिल सका है।

अपने को पहचानने की इच्छा होते ही हम यह जानने की कोशिश करते हैं कि हम किन बातो मे अन्य मनुष्यो मे भिन्न है। भेद जानने की यह खोज हमे पहले यह जानने को विवश करती है कि किन बातो मे हम दूसरो के समान हैं। समानताओ का ज्ञान हुए बिना भिन्नता का या अपने विशेष चरित्र का ज्ञान नही हो सकता।

हमारी जन्मजात प्रवृत्तिया—मनोविज्ञान ने यह पता लगाया है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ प्रवृत्तियो के साथ जन्म लेता है। ये स्वाभाविक, जन्म-जात प्रवृत्तिया ही मनुष्य की प्रथम प्रेरक होती हैं। मनुष्य होने के नाते प्रत्येक मनुष्य को इन प्रवृत्तियो की परिधि मे ही अपना कार्यक्षेत्र सीमित रखना पडता है। इन प्रवृत्तियो का सच्चा रूप क्या है, ये सख्या मे कितनी

प्रतिक्रिया का वाह्य रूप है। उसका प्रभाव दोनो के मन पर भी जुदा-जुदा होगा। इन्ही नित्यप्रति के प्रभावो से चरित्र वनता है। यही चरित्र वनने की प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया मे कुछ लोग सशयशील, कुछ आत्मविश्वासी और कुछ शारीरिक भोगो मे आनन्द लेने वाले विलासी वन जाते हैं, कुछ नैतिक सिद्धान्तो पर दृढ रहनेवाले तपस्वी वन जाते हैं, तो कुछ लोग तुरन्त लाभ की इच्छा करनेवाले अधीर और दूसरे ऐसे वन जाते हैं जो धैर्यपूर्वक काम के परिणाम की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

वच्चे को आत्मनिर्णय का अधिकार है—यह प्रक्रिया वचपन मे ही शुरू होती है। जीवन के तीसरे वर्ष से ही वालक अपना चरित्र वनाना शुरू कर देता है। सव वच्चे जुदा-जुदा परिस्थितियो मे रहते हैं। उन परिस्थितियो के प्रति मनोभाव वनाने मे भिन्न-भिन्न चरित्रो वाले माता-पिता से वहुत कुछ सीखते हैं। अपने अध्यापको से या सगी-साथियो से भी सीखते हैं। किन्तु जो कुछ वे देखते हैं या सुनते हैं, सभी कुछ ग्रहण नही कर सकते। वह सव इतना परस्पर-विरोधी होता है कि उसे ग्रहण करना सम्भव नही होता। ग्रहण करने से पूर्व उन्हे चुनाव करना होता है। स्वय निर्णय करना होता है कि कौन-से गुण ग्राह्य हैं, और कौन-से त्याज्य। यही चुनाव का अधिकार वच्चे को भी आत्मनिर्णय का अधिकार देता है।

इसलिए हम कहते हैं कि हम परिस्थितियो के दास नही हैं, वल्कि उन परिस्थितियो के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया ही हमारे चरित्र का निर्माण करती है। हमारी निर्णयात्मक चेतनता जव पूरी तरह जागरित हो जाती है और हमारे नैतिक आदर्शों को पहचानने लगती है तो हम परिस्थितियो की जरा भी परवाह नही करते। आत्म-निर्णय का यह अधिकार ईश्वर ने हर मनुष्य को दिया है। अन्तिम निश्चय हमे स्वय करना है।

हम अपने मालिक आप हैं, अपना चरित्र स्वय वनाते हैं।

ऐसा न हो तो जीवन मे सघर्ष ही न हो, परिस्थितिया स्वय हमारे चरित्र को वना दें, हमारा जीवन कठपुतली की तरह वाह्य घटनाओ का गु[illegible] ।सौभाग्य से ऐसा नही है। मनुष्य स्वय अपना स्वामी

है। अपना चरित्र वह स्वय बनाता है। चरित्र-निर्माण के लिए उसे परिस्थितियो को अनुकूल या सबल बनाने की नही बल्कि आत्मनिर्णय की शक्ति को प्रयोग मे लाने की आवश्यकता है।

प्रवृत्तियो को रचनात्मक कार्य मे लगाओ—किन्तु आत्मनिर्णय की शक्ति का प्रयोग तभी होगा, यदि हम आत्मा को इस योग्य रखने का यत्न करते रहेगे कि वह निर्णय कर सके। निर्णय के अधिकार का प्रयोग तभी हो सकता है, यदि उसके अधीन कार्य करनेवाली शक्तिया उसके वश मे हो। शासक अपने निर्णय का प्रयोग तभी कर सकता है, यदि अपनी प्रजा उसके वश मे हो। इसी तरह यदि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तिया हमारे वश मे होगी, तभी हम आत्मनिर्णय कर सकेंगे। एक भी प्रवृत्ति विद्रोही हो जाए, स्वतन्त्र विहार शुरू कर दे तो हमारी सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था भग हो जाएगी। इसलिए हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तिया ही हमारे चरित्र की सबसे बडी दुश्मन हैं। उन्हे वश मे किए बिना चरित्र-निर्माण का कार्य प्रारम्भ नही हो सकता। नैतिक जीवन प्रारम्भ करने से पूर्व हमे उनकी बागडोर अपने हाथ मे लेनी होगी। उन्हे व्यवस्था मे लाना होगा। इसका यह अभिप्राय नही कि उन प्रवृत्तियो को मार देना होगा। उन्हे मारना न तो सम्भव ही है और न हमारे जीवन के लिए अभीष्ट ही। हमे उनकी दिशा मे परिवर्तन करके उन्हे रचनात्मक कार्यों मे लगाना है। वे प्रवृत्तिया उस जलधारा की तरह है जिसे नियन्त्रण मे लाकर खेत सीचे जा सकते है, विद्युत् भी पैदा की जा सकती है और जो अनियन्त्रित रहकर बडे-बडे नगरो को भी बरबाद कर सकती है।

स्थितप्रज्ञ कौन है—इन प्रवृत्तियो का सयम ही चरित्र का आधार है। सयम के बिना मनुष्य शुद्ध विचार नही कर सकता, प्रज्ञावान नही बन सकता। गीता मे कहा गया है कि इन्द्रियो की प्रवृत्तिया जिसके वश मे हो—उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। प्रज्ञा तो सभी मनुष्यो मे है। बुद्धि का वरदान मनुष्य-मात्र को प्राप्त है। किंतु प्रतिष्ठितप्रज्ञ या स्थित-प्रज्ञ वही होगा जिसकी प्रवृत्तिया उसके वश मे होगी। इस तरह की सबल प्रज्ञा ही आत्म-निर्णय का अधिकार रखती है। यही प्रज्ञा है जो परि-स्थितियो की दासता स्वीकार न करके मनुष्य का चरित्र बनाती है।

हैं, इनका सतुलन किस तरह होता है, ये रहस्य अभी पूरी तरह स्पष्ट नही हो पाए है। फिर भी कुछ प्राथमिक प्रवृत्तियो का नाम प्रामाणिक रूप से लिया जा सकता है। उनमे से कुछ ये हैं

डरना, हसना, अपनी रक्षा करना, नई बातें जानने की कोशिश करना, दूसरो से मिलना-जुलना, अपने को महत्त्व मे लाना, सग्रह करना, पेट भरने के लिए कोशिश करना, भिन्न योनि से भोग की इच्छा—इन प्रवृत्तियो की वैज्ञानिक परिभाषा करना वडा कठिन काम है। इनमे से वहुत-सी ऐसी हैं जो जानवरो मे भी पाई जाती हैं। किन्तु कुछ भावनात्मक प्रवृत्तिया ऐसी भी हैं, जो पशुओ मे नही हैं। वे केवल मानवीय प्रवृत्तिया हैं। सग्रह करना, स्वय को महत्त्व मे लाना, रचनात्मक कार्य मे सतोष अनुभव करना, दया दिखाना, करुणा करना आदि कुछ ऐसी भावनाए हैं जो केवल मनुष्य मे होती हैं।

प्रवृत्तियो की व्यवस्था—वीज-रूप मे ये प्रवृत्तिया मनुष्य के स्वभाव मे सदा रहती हैं। फिर भी मनुष्य इनका गुलाम नही है। अपनी वुद्धि से वह इन प्रवृत्तियो की ऐसी व्यवस्था कर लेता है कि उसके व्यक्तित्व को उन्नत वनाने मे ये प्रवृत्तिया सहायक हो सकें। इस व्यवस्था के निर्माण मे ही मनुष्य का चरित्र वनता है। यही चरित्र-निर्माण की भूमिका है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो का ऐसा सतुलन करना कि वे उसकी कार्य-शक्ति का दमन न करते हुए उसे कल्याण के मार्ग पर चलाने मे सहायक हो, यही आदर्श व्यवस्था है और यही चरित्र-निर्माण की प्रस्तावना है।

इसी व्यवस्था का नाम योग है—इसी सन्तुलन को हमारे शास्त्रो ने 'समत्व' कहा है। यही योग है—'समत्व योग उच्यते' यही वह योग है जिसे 'योग कर्मसु कौशलम्' कहा है। प्रवृत्तियो मे सन्तुलन करने का यह कौशल ही वह कौशल है जो जीवन के हर कार्य मे सफलता देता है। इसी समवुद्धि व्यक्ति के लिए गीता मे कहा है

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

यह सतुलन मनुष्य को स्वय करना होता है। इसीलिए हम कहते है कि मनुष्य अपने भाग्य का स्वय स्वामी है। वह अपना चरित्र स्वय बनाता है।

चरित्र किसीको उत्तराधिकार मे नही मिलता। अपने माता-पिता से हम कुछ व्यावहारिक बात सीख सकते है, किन्तु चरित्र हम अपना स्वय बनाते हैं। कभी-कभी माता-पिता और पुत्र के चरित्र मे समानता नज़र आती है, वह भी उत्तराधिकार मे नही, बल्कि परिस्थितियो-वश पुत्र मे आ जाती है।

परिस्थितियो के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया—कोई भी बालक अच्छे या बुरे चरित्र के साथ पैदा नही होता। हा, वह अच्छी-बुरी परिस्थितियो मे अवश्य पैदा होता है, जो उसके चरित्र-निर्माण मे भला-बुरा असर डालती है।

कई बार तो एक ही घटना मनुष्य के जीवन को इतना प्रभावित कर देती है कि उसका चरित्र ही पलट जाता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। निराशा का एक झोका उसे सदैव के लिए निराशावादी बना देता है, या अचानक आशातीत सहानुभूति का एक काम उसे सदा के लिए तरुण और परोपकारी बना देता है। वही हमारी प्रकृति बन जाती है। इसलिए यही कहना ठीक होगा कि परिस्थितिया हमारे चरित्र को नही बनाती, बल्कि उनके प्रति जो हमारी मानसिक प्रतिक्रियाए होती हैं, उन्हीसे हमारा चरित्र बनता है। प्रत्येक मनुष्य के मन मे एक ही घटना के प्रति जुदा-जुदा प्रतिक्रिया होती है। एक ही साथ रहनेवाले बहुत-से युवक एक-सी परिस्थितियो मे से गुजरते हैं, किन्तु उन परिस्थितियो को प्रत्येक युवक भिन्न दृष्टि से देखता है, उनके मन मे अलग-अलग प्रतिक्रियाए होती है। यही प्रतिक्रियाए हमे अपने जीवन का दृष्टिकोण बनाने मे सहायक होती है। इन प्रतिक्रियाओ का प्रकट रूप वह है जो उस परिस्थिति के प्रति हम कार्य-रूप मे लाते हैं। एक भिखारी को देखकर एक के मन मे दया जागृत हुई, दूसरे के मन मे घृणा। दयार्द्र व्यक्ति उसे पैसा दे देगा, दूसरा उसे दुत्कार देगा, या स्वय वहा से दूर हट जाएगा। किन्तु यही तक इस प्रतिक्रिया का प्रभाव नही होगा। यह तो उस

प्रतिक्रिया का वाह्य रूप है। उसका प्रभाव दोनो के मन पर भी जुदा-जुदा होगा। इन्ही नित्यप्रति के प्रभावो से चरित्र वनता है। यही चरित्र वनने की प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया मे कुछ लोग सशयशील, कुछ आत्मविश्वासी और कुछ शारीरिक भोगो मे आनन्द लेने वाले विलासी वन जाते हैं, कुछ नैतिक सिद्धान्तो पर दृढ रहनेवाले तपस्वी वन जाते हैं, तो कुछ लोग तुरन्त लाभ की इच्छा करनेवाले अधीर और दूसरे ऐसे वन जाते हैं जो धैर्यपूर्वक काम के परिणाम की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

वच्चे को आत्मनिर्णय का अधिकार है—यह प्रक्रिया वचपन से ही शुरू होती है। जीवन के तीसरे वर्ष से ही वालक अपना चरित्र वनाना शुरू कर देता है। सव वच्चे जुदा-जुदा परिस्थितियो मे रहते हैं। उन परिस्थितियो के प्रति मनोभाव वनाने मे भिन्न-भिन्न चरित्रो वाले माता-पिता से वहुत कुछ सीखते हैं। अपने अध्यापको से या सगी-साथियो से भी सीखते हैं। किन्तु जो कुछ वे देखते हैं या सुनते हैं, सभी कुछ ग्रहण नही कर सकते। वह सव इतना परस्पर-विरोधी होता है कि उसे ग्रहण करना सम्भव नही होता। ग्रहण करने से पूर्व उन्हे चुनाव करना होता है। स्वय निर्णय करना होता है कि कौन-से गुण ग्राह्य हैं, और कौन-से त्याज्य। यही चुनाव का अधिकार वच्चे को भी आत्मनिर्णय का अधिकार देता है।

इसलिए हम कहते है कि हम परिस्थितियो के दास नही हैं, वल्कि उन परिस्थितियो के प्रति हमारी मानसिक प्रतिक्रिया ही हमारे चरित्र का निर्माण करती है। हमारी निर्णयात्मक चेतनता जव पूरी तरह जागरित हो जाती है और हमारे नैतिक आदर्शों को पहचानने लगती है तो हम परिस्थितियो की ज़रा भी परवाह नही करते। आत्म-निर्णय का यह अधिकार ईश्वर ने हर मनुष्य को दिया है। अन्तिम निश्चय हमे स्वय करना है।

हम अपने मालिक आप है, अपना चरित्र स्वय वनाते हैं।

ऐसा न हो तो जीवन मे सघर्ष ही न हो, परिस्थितिया स्वय हमारे चरित्र को वना दें, हमारा जीवन कठपुतली की तरह वाह्य घटनाओ का गुलाम हो जाए। सौभाग्य से ऐसा नही है। मनुष्य स्वय अपना स्वामी

है। अपना चरित्र वह स्वय बनाता है। चरित्र-निर्माण के लिए उसे परिस्थितियो को अनुकूल या सबल बनाने की नही बल्कि आत्मनिर्णय की शक्ति को प्रयोग मे लाने की आवश्यकता है।

प्रवृत्तियों को रचनात्मक कार्य मे लगाओ—किन्तु आत्मनिर्णय की शक्ति का प्रयोग तभी होगा, यदि हम आत्मा को इस योग्य रखने का यत्न करते रहेगे कि वह निर्णय कर सके। निर्णय के अधिकार का प्रयोग तभी हो सकता है, यदि उसके अधीन कार्य करनेवाली शक्तिया उसके वश मे हो। शासक अपने निर्णय का प्रयोग तभी कर सकता है, यदि अपनी प्रजा उसके वश मे हो। इसी तरह यदि हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तिया हमारे वश मे होगी, तभी हम आत्मनिर्णय कर सकेंगे। एक भी प्रवृत्ति विद्रोही हो जाए, स्वतत्र विहार शुरू कर दे तो हमारी सम्पूर्ण नैतिक व्यवस्था भग हो जाएगी। इसलिए हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तिया ही हमारे चरित्र की सबसे बडी दुश्मन है। उन्हे वश मे किए बिना चरित्र-निर्माण का कार्य प्रारम्भ नही हो सकता। नैतिक जीवन प्रारम्भ करने से पूर्व हमे उनकी बागडोर अपने हाथ मे लेनी होगी। उन्हे व्यवस्था मे लाना होगा। इसका यह अभिप्राय नही कि उन प्रवृत्तियो को मार देना होगा। उन्हें मारना न तो सम्भव ही है और न हमारे जीवन के लिए अभीष्ट ही। हमे उनकी दिशा मे परिवर्तन करके उन्हे रचनात्मक कार्यों मे लगाना है। वे प्रवृत्तिया उस जलधारा की तरह हैं जिसे नियन्त्रण मे लाकर खेत सीचे जा सकते हैं, विद्युत् भी पैदा की जा सकती है और जो अनियन्त्रित रहकर बडे-बडे नगरो को भी बरबाद कर सकती है।

स्थितप्रज्ञ कौन है—इन प्रवृत्तियो का सयम ही चरित्र का आधार है। सयम के बिना मनुष्य शुद्ध विचार नही कर सकता, प्रज्ञावान नही बन सकता। गीता मे कहा गया है कि इन्द्रियो की प्रवृत्तिया जिसके वश मे हो—उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है। प्रज्ञा तो सभी मनुष्यो मे है। बुद्धि का वरदान मनुष्य-मात्र को प्राप्त है। किंतु प्रतिष्ठितप्रज्ञ या स्थित-प्रज्ञ वही होगा जिसकी प्रवृत्तिया उसके वश मे होगी। इस तरह की सबल प्रज्ञा ही आत्म-निर्णय का अधिकार रखती है। यही प्रज्ञा है जो परि-स्थितियो की दासता स्वीकार न करके मनुष्य का चरित्र बनाती है।

जिसकी बुद्धि स्वाभाविक प्रवृत्तियो, विषयवासनाओ को वश मे नहीं कर सकेगी, वह कभी सच्चरित्र नही बन सकता ।

2

बुद्धिपूर्वक संयम ही सच्चा संयम है

बुद्धिपूर्वक संयम ही संयम की व्यवस्था है—यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि हम बुद्धि के बल पर ही प्रवृत्तियो का सयम कर सकते हैं। जीवन के समुद्र मे जब प्रवृत्तियो की आधी आती है तो केवल बुद्धि के मस्तूल ही हमे पार लगाते हैं। विषयो को मैंने आधी कहा है, इनमे आधी का वेग है और इनको काबू करना बडा कठिन है—इसीलिए यह कहा है। अन्यथा इनमे आधी की क्षणिकता नही है। प्रवृत्तियो के रूप मे ये विषय सदा मनुष्य मे रहते है। उसी तरह जैसे पवन के रूप मे आधी आकाश मे रहती है। वही पवन जब कुछ आकाशी तत्त्वो के विशेष सम्मिलन के कारण तीव्र हो जाता है, तो आधी बन जाता है। हमारी प्रवृत्तिया भी जब भावनाओ के विशेष मिश्रण से तीव्र हो जाती हैं तो तीव्र वासनाए बन जाती हैं। उनका पूर्ण दमन नही हो सकता। बुद्धि द्वारा उन्हे कल्याणकारी दिशाओ मे प्रवृत्त ही किया जा सकता है, उनका सयम किया जा सकता है।

संयम की कठिनाइया—सयम शब्द जितना साधारण हो गया है उसे क्रियात्मक सफलता देना उतना ही कठिन काम है। इस कठिनाई के कारण हैं। सबसे मुख्य कारण यह है कि जिन प्रवृत्तियो को हम सयत करना चाहते हैं वे हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तिया हैं। उनका जन्म हमारे जन्म के साथ हुआ है। हम उनमे अनायास प्रवृत्त होते हैं। इसलिए वे बहुत सरल हैं। इसके अतिरिक्त उनका अस्तित्व हमारे लिए आवश्यक भी है। उन प्रवृत्तियो के बिना हम कोई भी चेष्टा नही कर सकते। उनके बिना हम निष्कर्म हो जाएगे, निष्कर्म ही नही, हम असुरक्षित भी हो जाएगे। प्रत्येक स्वाभाविक प्रवृत्ति इसी सुरक्षा और प्रेरणा की सदेश-

हर होती है। उदाहरण के लिए भय की भावना को लीजिए। हम भयभीत तभी होते हैं जब किसी प्रतिकूल शक्तिशाली व्यक्ति या परिस्थिति से युद्ध करने मे अपने को असमर्थ पाते हैं। उस समय भय की भावना हृदय मे जागती है और हमे कैसे भी हो, भागकर, छिपकर या किसी भी छल-वल द्वारा अपनी रक्षा करने को प्रेरित करती है। यदि हम इस तरह वच निकलने का उपाय न करें तो जान से हाथ धो वैठें अथवा किसी मुसीवत मे पड जाए। भय हमे आनेवाले विनाश से सावधान करता है। भय ही हमें यह बतलाता है कि अव यह रास्ता वदलकर नया रास्ता पकडो। हम कुछ देर के लिए सहम जाते हैं। प्रत्युत्पन्नमति लोग नये रास्ते का अवलम्ब प्राप्त करके भय के कारणो से बच निकलते हैं। उन्हे अपनी परिस्थिति की कठिनाइयो का नया ज्ञान हो जाता है। उन नई कठिनाइयों पर शान्ति से विचार करके नया समाधान सोच लेते हैं।

भय का भी प्रयोजन है—अत भय के हितकारी प्रभाव से हम इकार नही कर सकते। किन्तु इस प्रभाव को अस्थायी मानकर इसे क्षणिक महत्त्व देना ही उपयुक्त है। यदि यह भय हमारे स्वभाव मे आ जाए तो हम सदा असफल होने की भावना से ग्रस्त हो जाएगे। भय का अर्थ क्षणिक असफलता का दिग्दर्शन और नये उद्योग की प्रेरणा होनी चाहिए। नई प्रेरणा से मन मे नया उत्साह पैदा होगा। जिस तरह शेर पीछे हटकर हमला करता है, मनुष्य ऊची छलाग मारने के लिए नीचे झुकता है, उसी तरह भय से नई स्फूर्ति और नया सकेत लेने के वाद जव वह नया पुरुषार्थ करने का सकल्प करेगा, तभी भय भाग जाएगा।

जव हमारा भय स्थायी बन जाता है—निरन्तर असफलता और प्रतिकूलताओ से युद्ध करने की अशक्तता हमारे भय को स्थायी वना देती है। तव हम छोटी से छोटी प्रतिकूलता से भी भयभीत होने लगते हैं। अज्ञानवश हम इन भयप्रद परिस्थितियो को और भी विशाल रूप देते जाते हैं। हमारा अज्ञान हमारे भय का साथी वन जाता है। जिन्हे वादलो मे विजली की कडक का वैज्ञानिक कारण मालूम नही, वे यह कल्पना कर लेते हैं कि दो अलौकिक दैत्य आकाश मे भीमकाय गदाओ से युद्ध कर रहे हैं। विजली का भय उनके लिए अजेय हो जाता है। अनेक

प्राकृतिक घटनाओ को भूत-प्रेतो की लडाइया मानकर हम सदा भयातुर रहने का अभ्यास डाल लेते हैं। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, पुच्छलतारा, महामारी आदि भौतिक घटनाए भयानक मानी जाती थी। विज्ञान ने जब से यह सिद्ध कर दिया है कि ये घटनाए मनुष्य के लिए विनाशक नही हैं, तब से ससार के बहुत-से भयो का निराकरण हो गया है।

हम भय की पूजा शुरू कर देते हैं—किन्तु, जिन वैज्ञानिको ने मनुष्य को इन मिथ्या भयो से छुटकारा देने का यत्न किया था उन्हे मृत्यु-दड तक दिया गया था। बात यह है कि भय की यह भावना मनुष्य को कुछ अलौकिक शक्तियो पर श्रद्धा रखने की प्रेरणा देती है। श्रद्धा मे आनन्द है। वही आनन्द भय पैदा करनेवाली वस्तुओ पर श्रद्धा रखने मे आने लगता है। इसलिए हमे अपना भय भी आनन्दप्रद हो जाता है। मनुष्य की ये मनोभावनाए, जो उसे कमजोर बनाती हैं, जब आनन्दप्रद हो जाए तो समझना चाहिए कि हमारा रोग असाध्य नही तो दु साध्य अवश्य हो गया है। भय से बचने के उपाय सोचने के स्थान पर मनुष्य जब भय की पूजा शुरू कर दे तो भय से मुक्ति की आशा बहुत कम रह जाती है। उस समय भय की प्रवृत्ति मनुष्य को वश मे कर लेती है। हमारा ध्येय यह है कि मनुष्य भय की प्रवृत्ति को वश मे करे, न कि वह उसका गुलाम बन जाए।

जब भय का भूत विशाल होता जाता है—मनुष्य भय की प्रवृत्ति का दास किस तरह बन जाता है, यह भी एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। अगर एक पागल कुत्ता आपका पीछा करता है तो निश्चय ही आपको उस कुत्ते से डर लगने लगता है और आपको उससे डरने की आदत भी पड जाती है। यह आदत युक्तियुक्त है। इसका इतना ही मतलब है कि आपको पागल कुत्ते को काबू मे करने का उपाय मालूम नही है।

किन्तु जब आपको दूसरे कुत्तो से भी भय मालूम होने लगे तो समझ लीजिए कि भय की आदत आपको वश मे करने लगी है। जब तक आपको दूसरे कुत्तो के पागल होने का निश्चय न हो तब तक आपको भयातुर नही होना चाहिए। किन्तु देखा यह गया है कि कमजोर दिल के आदमी पागल कुत्ते से डरने के बाद सभी कुत्तो से डरना शुरू कर देते है। यह डर

बढता-बढता यहा तक पहुच जाता है कि उसे हर चौपाये से डर लगना शुरू हो जाता है। इस भय को वश मे न किया जाए तो उसे भयावह वस्तु से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु से ही भय प्रतीत होने लगता है। मेरे एक मित्र का एक बार अधेरे कमरे मे किसी चीज़ से सिर टकरा गया। उसके बाद उन्हे न केवल उस चीज़ से बल्कि अधकार से भी डर लगने लगा। भयावह वस्तु के साथ उसकी याद दिलानेवाली हर चीज़ से डर लगने लगता है।

भय का यह क्षेत्र बहुत बढता जाता है, और इसका प्रभाव भी मनुष्य के चरित्र पर स्थायी होता जाता है। दुर्भाग्य से यदि उसे भयजनक अनेक परिस्थितियो मे से एक साथ गुज़रना पडता है तो वह सदा के लिए भय-भीत हो जाता है; जीवन का हर क्षण मृत्यु का सदेश देता है, हवा की मधुर मरमर मे तूफान का भयकर गर्जन सुनाई देने लगता है और पत्तो के हिलने मे प्रलय के ताडव का दृश्य दिखाई देता है। उसका मन सदा विक्षिप्त रहता है। ऐसा व्यक्ति जीवन मे कभी सफल नही होता।

निर्भय होने का सकल्प ही भय को जीतने का उपाय है—भय-निवारण के लिए शास्त्रो मे ईश-विनय की गई है

अभयं मित्रादभयममित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।

यह प्रार्थना ही मनुष्य को अभयदान नही दे सकती। ईश्वर ने मनुष्य को भय पर विजय पाने का साधन पहले ही दिया हुआ है। जिस तरह मनुष्य मे प्रतिकूलता से डरने की प्रवृत्ति है, उसी तरह प्रतिकूलताओ से युद्ध करने की और अपनी प्रतिष्ठा रखने की प्रवृत्ति भी है। इन प्रवृत्तियो को जागृत करके मनुष्य जब भय को जीतने का सकल्प कर ले, तो वह स्वंय निर्भय होता जाता है। मनुष्य की एक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्ति का सन्तुलन करती रहती है। जिस तरह प्रवृत्तिया स्वाभाविक है, उसी तरह सन्तुलन भी स्वाभाविक प्रक्रिया है। प्राकृतिक अवस्था मे यह कार्य स्वय होता रहता है, किन्तु हमारा जीवन केवल प्राकृतिक अवस्थाओ मे से नही गुज़रता। विज्ञान की कृपा से हमारा जीवन प्रतिदिन अप्राकृतिक और विषम होता जाता है। हमारी परिस्थितिया असाधारण होती जाती है। हमारा जीवन अधिक साहसिक और वेगवान होता जाता है। सघर्ष बढता ही जाता है। जीवित रहने के लिए भी हमे जान लडाकर कोशिश

करनी पडती है। जीने की प्रतियोगिता मे केवल शक्तिशाली ही जीतते हैं। योग्यतम को ही जीने का अधिकार है।[1]—इस स्थापना से प्रत्येक साधारण व्यक्ति को प्राणो का भय लगा रहता है। यह भय हमारी नस-नस मे समा गया है।

असफलता का भय मनुष्य को निश्चेष्ट बना देता है—कोई भी काम प्रारम्भ करने का सकल्प करने से पहले असफलता का भय हमारी इच्छाशक्ति को शिथिल करने के लिए पैदा हो जाता है। कर्म-मार्ग की कठिनाइयो का वर्णन करते हुए उपनिषदे कहती है · 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गमपथस्तत्कवयो वदन्ति।' अर्थात् छुरे की धार की तरह तेज़ और दुर्गम है कर्म का मार्ग। दूसरे कहते हैं 'गहना कर्मणो गति।' परन्तु वह काम इतना गहन या छुरे की धार की तरह तेज़ नही होता जितना उस काम मे असफलता का डर होता है।

असफलता का यह भय मनुष्य के मन को सशयशील ही नही बनाता, वल्कि सच्चे रास्ते पर चलने मे भी वाधक वन जाता है। 'सच्चा रास्ता' वडा अस्पष्ट शब्द है। हमारा अभिप्राय सच्चे रास्ते से यह है कि जिस रास्ते पर मनुष्य चलने का विचार करता है, विवेक द्वारा उस रास्ते पर चलने का निश्चय करने के वाद भी वह चल पडता है उलटे रास्ते पर। इसे सभ्रम कहिए, स्मृति-विभ्रम कहिए या दीवानापन। एक ही अर्थ के कई वाचक शब्द है ये। गीता मे इसी स्मृति-विभ्रम से वुद्धि-नाश और उसके वाद विनाश की चेतावनी भगवान कृष्ण ने दी है। 'मैं धर्म को जानता हू, किन्तु मेरी प्रवृत्ति नही होती, मैं पाप को जानता हू, किन्तु उसमे निवृत्ति नही पा सकता।'[2] यह मन स्थिति हो जाती है उस व्यक्ति की जो कार्य करने से पूर्व ही उसकी असफलता के भय से विचलित हो जाता है। मन की यह स्थिति यदि निरन्तर कुछ देर तक रहे तो मनुष्य की मानसिक स्नायु-ग्रन्थिया वहुत निर्वल होकर अपना कार्य वन्द कर

1. Survival of the fittest
2. जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति।
—महाभारत

देती हैं। चेतन बुद्धि अपना काम करना ही वन्द कर देती है। इसे ही मानसिक निश्चेष्टता[1] कहते हैं।

मानसिक द्वन्द्व स्वाभाविक क्रिया है—मनुष्य का मानसिक द्वन्द्व, यदि वह जागरित चेतनाओ मे है, कभी मानसिक निश्चेष्टता का कारण नही वनता। यदि कोई आदमी अपने कोट के कपडे का रग पसन्द नही कर पाता, या अपने किसी भी कार्य की शैली का निश्चय नही कर पाता तो उसका स्नायु स्वस्थ नही होगा। असशय की इस अवस्था का प्रभाव उसकी कार्यशक्ति पर या मनोवल पर अवश्य पडता है, किन्तु मन की चेतनता विलुप्त नही होती। यह तभी होता है जव उसे अपने मानसिक द्वन्द्व की प्रकृति का भी पूरा ज्ञान न हो। ऐसा व्यक्ति कभी अपने ध्येय की ओर प्रगति नही करता। चौराहे पर खड़ा हुआ वह सोचता है कि किधर जाऊ। उसे मालूम है कि उत्तर दिशा के रास्ते पर जाने से वह अपने गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुच जाएगा। किन्तु, क्योंकि पूर्व दिशा का रास्ता कुछ आसान है, इसलिए वह पूर्व की ओर जाने को तैयार हो जाता है। किन्तु उसे जाना तो उत्तर दिशा मे था, इसलिए वह वीच का, उत्तर-पूर्व का, रास्ता पकड लेता है। यह रास्ता न तो उसे उसके ध्येय पर पहुचाता है, न ही वह आसान है। केवल समझौते के तौर पर उसने यह मार्ग पकडा है। मानसिक रोग के रोगी यही कहते हैं—'मैं चाहता हू, किन्तु कर नही पाता।' यह वाक्य ऐसे ही दुर्वल इच्छा-शक्ति वाले मनुष्यो का प्रिय वाक्य है।

ऐसे सशयात्मा व्यक्तियो के लिए ससार मे कोई स्थान नही है। ऐसी आत्माए आत्म-निर्णय के अधिकार का, प्रयोग नही कर सकती। ऐसे मनुष्य निर्णयात्मक वुद्धि या व्यवसायात्मिक वुद्धि से रहित होते है। इन्ही क्षीणदल और हीनचेष्ट व्यक्तियो के लिए भगवान् कृष्ण ने कहा था—'सशयात्मा विनश्यति।'

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के सशय को दूर करने के लिए गीता का उपदेश दिया था। अर्जुन का सशय असफलता के भय से पैदा हुआ सशय नही था। असफलता से भी अधिक भयकर रूप कई वार नैतिक भय पकड

---

1 Nervous breakdown

लेता है। कही यह पाप तो नही, समाज की दृष्टि मे यह भला है या बुरा, माता-पिता इसमे प्रसन्न होगे या अप्रसन्न, आदि अनेक प्रकार के नैतिक भय भी मनुष्य को निर्बल और सशयात्मा बना देते हैं।

भय-प्रेरित शिक्षा मानसिक विकास की शत्रु है—भय को कभी चरित्र-निर्माण का आधार नही बनाना चाहिए। अज्ञानवश माता-पिता भय दिखाकर ही अपनी सतान को चरित्रवान बनाने का यत्न करते है। हमारी आज की शिक्षा-पद्धति का आधार ही भय है। हम भय दिखलाकर बच्चो की रचनात्मक वृत्तियो को कुचल देते है। मा को यह डर लगता है कि बच्चा आग से अपने को जला न ले। बच्चा जब आग के पास जाता है तो वह चिल्ला उठती है—'वहा न जाओ, इससे जल जाओगे।' बच्चा डर जाता है, दूर हट जाता है। आग उसके लिए रहस्य-मय वस्तु रह जाती है। वह अपने अनुभव से तो जानता नही कि आग जलाती है। वह तो इतना ही जानता है कि मा कहती है 'आग जलाती है'। यदि बचपन मे मा ने ज़रा-सा भी जलने दिया होता तो बच्चा सच्चाई जान लेता और आग के प्रति उसका रुख रचनात्मक बन जाता।

ईश्वर का भय ईश्वर के प्रति घृणाभाव मे बदल सकता है—मैं ऐसे बहुत-से बच्चो को जानता हू जिनका जीवन नियत्रण के कारण नष्ट हो चुका है। नियत्रण का आधार 'भय' होता है। 'ईश्वर' और 'पाप' की भावनाओ का उद्देश्य भी बच्चो मे भय पैदा करना होता है। 'ईश्वर' के भय से जिन बच्चो का चरित्र-निर्माण किया जाएगा वे न केवल चरित्रहीन हो जाएगे बल्कि 'ईश्वर' से भी घृणा करने लगेंगे। भय ही घृणा को जन्म देता है। हम जिस वस्तु से डरते है उससे घृणा अवश्य करते है। जिन बच्चो मे भय नही होता वे कभी घृणा नही करते। फौजी कानून के हिमायती बाप यह समझते है कि 'क्योकि पिटाई से मुझे लाभ हुआ था, मेरे लडके को भी अवश्य लाभ होना चाहिए।' मेरा विश्वास है कि ऐसे बाप अपने बच्चो से प्यार नही करते। ऐसे बाप बच्चो को तरह-तरह के भय दिखलाकर उसके मन मे घृणा का जहर भर देते हैं। वे उनकी रचना-त्मक वृत्तियो को नष्ट कर देते हैं। ऐसे बच्चे कभी चरित्रवान् नही बनते। उनकी आत्मनिर्णय की शक्ति का बीज ही नष्ट कर दिया जाता है।

भय दिखाकर जिस काम से बच्चो को रोका जाए, वह काम बच्चे जरूर करते हैं।

लोकापवाद का भय मनुष्य को छल-कपट सिखाता है—समाज का भय या लोकापवाद का भय भी कभी चारित्रिक विकास का कारण नही हो सकता। इस भय से मनुष्य का चरित्र नष्ट हो जाता है। वह ऐसे काम करता है जिनपर उसे विश्वास नही होता और उन कामो को आधे दिल से करता है। लोक-निन्दा या लोक-स्तुति को अपना पथदर्शक मानने वाला व्यक्ति कभी स्वतन्त्र विचारक या नेता नही बन सकता। ऐसे व्यक्ति लोगो से सस्ती वाहवाही पाने के लिए अपनी यथार्थ प्रकृति को दबाते और छिपाते हैं। उनकी सब चेष्टाए छल-कपट से भर जाती हैं। ऐसा व्यक्ति कभी सफल जीवन व्यतीत नही कर सकता।

भूत-भविष्यत् का भय जीवन का शत्रु है—इन सबसे अधिक खतरनाक है भविष्य का भय। भविष्य की चिन्ता से सभी ग्रस्त है। जीवन के भविष्य की चिन्ता और फिर जीवन के बाद मृत्यु की चिन्ता साधारण व्यक्तियो को भयभीत रखती है। मृत्यु के भय को दूर करने के लिए तो आत्मा के अमरत्व की कल्पना कर ली गई है, किन्तु जीवन की भविष्य-सम्बन्धी विभीषिकाओ को दूर करने के लिए अभी पूरा प्रयत्न नही हुआ है। हमे भूतकाल का शोक और भविष्य की चिन्ता कभी निर्भय नही होने देती। बच्चे के जन्म लेते ही माता-पिता को उसके भविष्य का भय ग्रस्त कर लेता है। वस्तुत यह भय सच्चा नही, स्वार्थमूलक होता है। वे बच्चे के नही अपने भविष्य की चिन्ता करने लगते हैं। उन्हे डर यह होता है कि कहीं उन्हे ही बच्चो का भार जन्म-भर न उठाना पडे। अथवा यह भी कि जब वे अशक्त हो जाएगे तो बच्चे उनका भार उठा सकेंगे या नही। वे अपने बच्चो से पहले ही आशाए करने लगते हैं। पहले से ही बच्चो के दिल मे अपने मनोरथ भरने शुरू कर देते है और साथ ही यह भय भी कि बच्चे उन मनोरथो को शायद पूरा न कर सकें। बच्चे के मन पर मा-बाप के स्वार्थपूर्ण मनोरथो का यह अस्वाभाविक भय बच्चों के कोमल मन को आशंकित और भयभीत कर देता है। स्वभाव से बच्चे का मन सदा उल्लसित रहता है। उसे स्वतत्र विकास का अवसर दिया जाए तो वह बहुत कम भयभीत

होगा। भय, शोक वा चिन्ता उसे छुएगे तक नही। किन्तु मा-बाप उन्हे अछूता नही रहने देते। उनमे अपने भय का जहर भर देते हैं। गुलाब की कली की तरह खिलनेवाला बालहृदय पूरी तरह खिलने से पहले कुम्हलाने लगता है। वह भी भविष्य की आशकाओ से हर समय कापने लगता है।

भय से मनुष्य दुश्चिन्ताओ का पुतला बन जाता है—यह भय बडी-बडी बातो के लिए नही होता। हमे गाडी पर चढना है, चढने से एक क्षण पहले तक हमे यह भय लगा रहेगा कि शायद हमे गाडी नही मिलेगी। गाडी आने से पहले ही हमारा दिल आशका से धडकने लगता है। प्लेट-फार्म पर खडे सब मुसाफिर हमे अपने प्रतिद्वन्द्वी लगने लगते हैं। मन मे आता है कि इन सबको कुचलती हुई गाडी गुज़र जाए और हम अकेले ही गाडी पर चढने के उम्मीदवार रह जाए। यह भय ही मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बनाता है। भयशील व्यक्ति को अपने भय का विशेष कारण मालूम नही होता, फिर भी वह हर मौके पर अपनी असफलताओ के भय से कापता ही रहता है, वह दुश्चिन्ताओ का पुतला बन जाता है।

भय की स्वाभाविक प्रवृत्ति का अन्य स्वाभाविक प्रवृत्तियो के साथ समन्वय न करने से ही यह अनर्थ होता है। वह प्रवृत्ति दैत्य की तरह फैलती और बढती जाती है। उसकी छाया हमारे मन और हमारी आत्मा की अन्य सब प्रवृत्तियो को निर्बल बना देती है। हमारी नस-नस मे भय का सचार हो जाता है। हमारी बुद्धि भी भय की प्रवृत्ति से पीडित होकर, भले-बुरे, कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक छोड देती है। हम किसी भी सबध मे कुछ निश्चय नही कर पाते।

मनुष्य मे अनिश्चयात्मकता क्यो आती है? हम किसी निश्चय पर पहुचने से क्यो कतराते हैं? इसलिए कि हमे डर होता है कि हम कही कोई ऐसा काम न कर बैठें जो दूसरो की आलोचना या उपहास का विषय बन जाए।

अनिश्चय-बुद्धि का क्षेत्र सीमित भी हो सकता है—इस अनिश्चय-बुद्धि का क्षेत्र सीमित भी हो सकता है। एक स्त्री को केवल यही अनिश्चय भी हो सकता है कि वह किसी दावत मे जाने के लिए कौन-सी साडी पहने। जब तक कोई दूसरा आदमी उसे न सुझाए, वह अपने मे डगमग-

सी रहती है। उसे अपनी पसन्द पर भरोसा नही होता। और यह सच है कि वह आलोचना के भय से वचना चाहती है।

भय स्वतन्त्र निश्चय की प्रवृत्ति को नष्ट कर देता है—भय से वचने की यह भावना मनुष्य मे इतनी प्रवल हो जाती है कि उसकी उन्नति असम्भव कर देती है। कुछ लोग केवल इसीलिए उत्तरदायित्वपूर्ण कामो मे हाथ नही डालते कि वे उत्तरदायित्व के भय से वचना चाहते है। निरन्तर नौकरी करने के वाद कई आदमियो को स्वतन्त्र काम करने की सुविधाए मिलने पर भी वे अपना काम शुरू नही करते। गुलामी करते-करते उनकी स्वतत्र निश्चय करने की शक्ति मृतप्राय हो जाती है। अत उन्हे कोई भी स्वतत्र निश्चय करने मे भय मालूम होता है।

ऐसे भीरु व्यक्ति को हम चरित्रवान् नही कह सकते। निर्भयता चरित्र की पहली शर्त है। भय मनुष्य की प्रकृति मे अवश्य है, किन्तु अत्यधिक भय एक मानसिक रोग है। ऐसे भयग्रस्त मनुष्य की मानसिक चिकित्सा होनी चाहिए। विज्ञान ने शारीरिक चिकित्सा की वहुत सुविधाए पैदा कर दी हैं, किन्तु मानसिक चिकित्सा के लिए अभी वहुत कम अनुसधान हुए हैं।

रचनात्मक भय कल्याणकारी हो सकता है—भय स्वय कोई व्याधि नही है। भय की प्रवृत्ति मनुष्य के कल्याण के लिए होती है। प्रकृति के प्रकोप से भयभीत होकर ही मनुष्य ने अपनी सुरक्षा के लिए मकान वनाए, सर्दी के भय से वचने के लिए वस्त्रो का आविष्कार किया, भूख के भय ने उसे अन्न पैदा करने की प्रेरणा दी। रोग का भय मनुष्य को अत्यधिक भोग से वचाता है, वुढापे की शारीरिक अक्षमता का भय उसे यौवन मे परिश्रमी और मितव्ययी बनाता है, सामाजिक अपवाद का भय उसे नैतिक नियमो के पालन को विवश करता है। किन्तु यह भय तभी तक कल्याण-कारी है जव तक वह मनुष्य को रचनात्मक कार्यो मे प्रवृत्त करता है, जव तक वह मर्यादित रहता है और उसपर आत्मा का नियत्रण रहता है। वस्तुत वह प्रवृत्ति हमारी रचनाओ का प्रत्यक्ष कारण नही वनती वल्कि हमारा आत्म-सयम ही रचनात्मक होता है।

मनुष्य मे कुछ प्रवृत्तिया रचनात्मक होती हैं, कुछ सरक्षात्मक। भय की प्रवृत्ति सरक्षात्मक प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति हमे सावधान करती है, और

हमारी रचनात्मक प्रवृत्ति को जागरित करती है। इस काम मे यदि उसे सफलता न मिले, यदि हमारी रचनात्मक प्रवृत्तिया निष्क्रिय हो चुकी हो तो भय की प्रवृत्ति तीव्र हो जाती है। यह स्वय सक्रिय होकर हमारी आत्मिक शक्तियो पर अधिकार कर लेती है। सभी प्रवृत्तियो के संबध मे यह सत्य चरितार्थ होता है। उनका रुख रचनात्मक कार्यों की ओर न किया जाए तो वे विनाशात्मक कार्यों मे प्रवृत्त हो जाती है।

चरित्र का मूल-मंत्र : संयम—चरित्र-निर्माण मे सयम का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। यहा सयम से मेरा अभिप्राय अपनी प्रवृत्तियो को अपने वश मे रखने से है। यही चरित्र का मूल मत्र है। कुछ लोग यह तर्क करते है कि वश मे करने की अपेक्षा प्रवृत्तियो के प्रति उदासीनता का होना श्रेयस्कर है। विषयो के प्रति वैराग्य होने से स्वय सयम हो जाएगा, हमे कष्ट नही देगी, यह धारणा भ्रममूलक है।

प्रवृत्तियो को वश मे नहीं करोगे तो वे तुम्हे वश मे कर लेंगी—सच यह है कि प्रवृत्तियो को वश मे नही करोगे तो वे तुम्हे वश मे कर लेंगी। हमारे ग्रथो मे शरीर को रथ कहा है। सारथि आत्मा है। इद्रिया घोड़े हैं। यदि सारथि आत्मा के वश मे इद्रियो की प्रवृत्तिया नही है तो इद्रियो के घोडे स्वय जिधर चाहेगे, रथ को ले जाएगे। यह रथ ऐसा नही है जिसे हम ससार के किसी एकान्त कोने मे खड़ा कर दे।

जीवन का अर्थ ही गति है, रथ को चलाना ही है। प्रश्न केवल यह है कि प्रवृत्तिया आपके इशारे पर चलती है या आप उनके इशारे के गुलाम हैं।

आप अपने मालिक हैं या नही—हर इसान इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है। ईमानदारी के साथ आप अपने दिल को टटोलें तो इसका जवाब आपको स्वय मिल जाएगा। जीवन का प्रत्येक क्षण आपको इस प्रश्न का उत्तर देता है। आप अपने मालिक हैं या नही—यह आप अच्छी तरह जानते हैं। आपकी प्रत्येक चेष्टा इस प्रश्न का उत्तर देती और इसी उत्तर पर आपका मानसिक आरोग्य निर्भर करता है या जीवन के प्रति आपके रुख का पता लगता है।

यदि अपने मालिक आप स्वय है तो आप कभी अपने को दबे हुए, हीन-दीन अनुभव नही करेंगे। आपकी आखें ईश्वर को छोडकर किसीके सामने

नीची नहीं होगी। आपकी गर्दन बादशाह के आगे भी नही झुकेगी। आप स्वय बादशाह होगे। सारी दुनिया आपको अपनी सल्तनत मालूम होगी। आपके सब काम खुद सवरते जाएगे। छोटे-मोटे झझावात आपको डगमगा नही सकेंगे। आपके पैर पृथ्वी पर बडी मजबूती से जमे रहेगे और मन का सतुलन इतनी अच्छी तरह कायम रहेगा कि बडे से बडे आधी-तूफानो मे से हसते-खेलते आप निकल जाएगे।

लेकिन, रथ के घोडो की लगाम हाथ से छूटते ही आपकी दशा बदल जाएगी। आखो की रोशनी जाती रहेगी, होठो की हसी और मन की प्रफुल्लता कुम्हला जाएगी। हवा का छोटा-सा झोका भी आपकी जडो को कपा देगा। मन पर पहाड का बोझ पड जाएगा। जीवन के सब काम अर्थशून्य हो जाएगे। पहले दु ख मे भी हसना सूझता था, अब सुख की चिनगारी भी चित्त के बुझे हुए दीपक को जगमग नही कर सकेगी।

3

असंयम से मानसिक अस्वास्थ्य

मझधार मे तिनको का सहारा—हमारे बीच हजारो ऐसे है जिनका मन इस मानसिक गुलामी की आग से राख हो चुका है। वैसे उनके पास सब कुछ है—दौलत है, इज्जत है, समाज मे ऊचा दर्जा है, रहने को सजे हुए प्रासाद है, बैंक मे अनगिनत धन है। वे भी चाहते हैं कि हम सुखी हो। किन्तु बहुत कोशिश करने पर भी उनके हाथ सुख क्या, सुख की परछाईं भी नही आती।

सुख की इच्छा से वे कभी किसी वस्तु का अवलम्बन लेते हैं, कभी किसी का। जैसे मझधार मे डूबता हुआ आदमी तिनके का सहारा लेता है, लेकिन तिनके तो उसे पार नही लगा सकते। वे उसे और भी थका देते हैं, निराश कर देते है।

असयमित जीवन . विचित्र भूलभुलैया—मनुष्य की बुद्धि एक बार रास्ता भूल जाए तो अनेक रास्तो पर भटकती है। एक बार हमारी

विवेक-बुद्धि गलत रास्ते पर चल पडे तो हम विचित्र भूलभुलैया मे पड जाते हैं। एक वार का वुद्धि-विभ्रम सारे जीवन को भवर मे डाल देता है। हमारी अनुभूतिया, हमारी भावनाए और सम्पूर्ण मानसिक प्रगतिया उल्टे रास्ते पर चलना शुरु कर देती हैं। जीवन का रुख ही वदल जाता है। हम वीमार हो जाते हैं। शरीर मे स्वस्थ प्रतीत होते हुए भी हमारा मानसिक स्वास्थ्य चिन्ताजनक स्थिति पर पहुच जाता है।

मन के साथ शरीर भी रोगी—मन के साथ शरीर भी निर्वल होना शुरु हो जाता है। मेरा एक मित्र इसी मानसिक व्याधि मे पड गया था। उसे यह डर पैदा हो गया था कि उसकी पत्नी उसे छोडकर चली जाएगी। उसकी शादी हुए अभी केवल एक वर्ष वीता था। इस एक वर्ष मे उसकी पत्नी ने हजारो रुपये वरवाद कर दिए थे। उस वरवादी की उतनी चिन्ता मेरे मित्र को नही थी जितनी पत्नी के भाग जाने की थी। इसका कारण उसका पत्नी-प्रेम नही था। वह तो उसी दिन काफूर हो गया था जिस दिन उसने अपनी पत्नी को एक अन्य धनी नौजवान दोस्त के साथ प्रणय-लीला करते देखा था। उसकी चिन्ता का कारण वह प्रणय-लीला भी नही थी। उसका कारण लोक-चर्चा का वह भय जो पत्नी के भाग जाने पर होना था। समाज का एक वहुत वडा भाग इसी भय से पीडित है। लोक-चर्चा का भय उन्हे कभी सुखी नही होने देता। साधारणतया वहुत समझदार और शान्त प्रकृति के होते हुए भी वह मित्र इस भय पर कावू नही पा सका। जब वह इस भय को वश मे नही कर सका तो उस भय ने उसे अपने वश मे कर लिया। कुछ दिन वाद जव मैं उससे मिला, तो वह निर्वल था। चेहरे पर पीलापन छा गया था। आखें अन्दर धस गई थी। हाथ कापते थे। मैंने गिलास भरकर उसे पानी दिया तो उसने कहा, "आधा गिलास दो, यह भारी है, मुझसे उठेगा नही।" कुछ दिन पहले ही उसने मुझे टेनिस मे हराया था और तैराकी मे मात दी थी। आज सचमुच वह पूरा भरा गिलास उठाने मे असमर्थ था। मुझे उसकी अवस्था पर वडा आश्चर्य हुआ। वह काफी समझदार था। किन्तु उसकी प्रवृत्तिया उसके वश मे नही थीं। वह उन्हे पूरी तरह सयन नही कर सका था।

मैंने उसे अपने पर कावू पाने की सलाह दी। किन्तु सलाह देने से ही

तो सयम की प्रेरणा नही दी जा मकती। वह कहने लगा, "मैं अच्छा होना नही चाहता।"

इस मानसिक अवस्था के रोगी का उपचार इसीलिए बहुत कठिन हो जाता है कि वह स्वस्थ होने की इच्छा ही छोड देता है। उसका अर्द्ध-चेतन मन उसे अस्वस्थ रहकर लोक-चर्चा से कुछ देर के लिए छुटकारा पाने और मित्रो की सहानूभूति पाने का लालच देता रहता है। अस्वस्थ मन के साथ स्वस्थ शरीर का सामजस्य भी नही है। स्वस्थ शरीर के साथ उसके व्यक्तित्व का जो पुष्ट रूप सामने आता है वह वस्तुत मानसिक रोग से इतना खोखला हो चुका होता है कि वह अपने सभावित रूप मे झूठे गौरव का भार वहन नही कर सकता।

शारीरिक रोग का निदान मानसिक दु ख—इस अवस्था मे उसका शरीर अनेक स्नायु-सम्बन्धी विपम रोगो का घर बन जाता है। बाह्य रूप से उसके शरीर मे किसी रोग के लक्षण अभिव्यक्त नही होते। उसके रोग का निदान केवल मानसिक दु ख होता है। वह अपनी समस्या का समाधान नही कर पाता। उसकी रुग्णता केवल अपनी व दूसरो की दृष्टि मे अपनी स्थिति को तर्कसम्मत सिद्ध करने का वहाना-मात्र होती है। वस्तुत उसकी इच्छा प्रेम और सहानुभूति प्राप्त करने की होती है। जव ये उसे नही मिलते तो उसका अचेतन मन उसे इनकी प्राप्ति के उपाय सुझा देता है।

ऐसे मानमिक रोग से पीडित व्यक्ति का रोग इस कारण भी दु साध्य हो जाता है कि यद्यपि उसका मन नीरोग होने को उत्सुक होता है किन्तु उसकी मन स्थिति ऐसी वन जाती है कि वह अपने मर्ज़ को लाइलाज समझने लगता है।

निराशा मे आनन्द—ऐसे वीमार के इलाज मे एक कठिनाई और भी पेश आती है। प्राय यह होता है कि ऐसा दुर्बलचरित्र व्यक्ति अपनी निराशाजनक स्थिति मे ही विकृत आनन्द की तृप्ति अनुभव करना शुरू कर देता है और दूसरो से विशिष्ट होने की विडम्बना से भी मन झूठी तृप्ति का आनन्द लेता है।

अपने ही वृत्त मे केन्द्रित व्यक्ति : एक समस्या—ऐसा वीमार आदमी

हद दर्जे का खुदगर्ज बन जाता है। वह स्वनिर्मित कल्पना-ससार मे रहने के कारण अपने ही वृत्त मे केन्द्रित हो जाता है। उसे अकेलापन ही प्रिय होता है। एक एकान्तनिष्ठा उसके मन मे अहकार को जन्म दे देती है। वह न केवल दुनिया से दूर रहना चाहता है बल्कि अपनी सभी सामाजिक वृत्तियो को नष्ट कर देता है।

सच तो यह है कि ऐसा रोगग्रस्त निर्बल व्यक्ति अपने लिए और सारे समाज के लिए अनिष्टकर बन जाता है। उसकी बीमारी का मूल कारण एक ही है—असयम। वह दुनिया पर हुकूमत करने के स्वप्न लेता है, किन्तु अपनी ही वृत्तियो से पराजित हो जाता है। उसका रोग और वह स्वय दोनो दूसरो के लिए टेढी समस्या बन जाते है।

उपचार के चार साधन—मेरा यह विश्वास है कि उनकी समस्या कितनी ही जटिल हो, उनकी मानसिक निर्बलता का कोई भी रूप हो, हम उसका उपाय कर सकते हैं। उसका उपचार हो सकता है। किन्तु उपचार की सफलता चार शर्तों पर निर्भर करती है

पहली यह कि उसके मन मे मानसिक स्वास्थ्य-लाभ करने की दृढ इच्छा हो और वह अपने स्वस्थ होने मे विश्वास रखता हुआ चिकित्सक के प्रयोग मे सहयोग दे।

दूसरी यह कि वह अपनी दुश्चिन्ता का मूल कारण जानने का प्रयत्न ठण्डे दिल से पूरी ईमानदारी के साथ करे। अपने को धोखा न दे।

तीसरी यह कि वह फिर स्वावलम्बी बनकर सम्मानपूर्ण जीवन बिताने का इरादा रखता हो।

चौथी बात यह है कि उसके सामने कोई लक्ष्य हो।

दृढ इच्छाशक्ति ही आत्मशक्ति है—पहली शर्त तब पूरी होगी यदि उसकी इच्छाशक्ति मे बल होगा। उसे स्मरण रखना चाहिए कि उसकी प्रवृत्तियां बडी बलवती है।[1] मन बडा चचल और हठी है। वह समय और स्थान की दूरी को भी कुछ नही मानता। जब हम सो जाते है तो भी वह स्वप्न की दुनिया मे निर्बाध विचरता है। ऐसी बलवती प्रवृत्तियो

पर शासन करने के लिए कई गुना ज्यादा बलशाली और दृढ इच्छाशक्ति की आवश्यकता है। यह काम हमारी बुद्धि से नही हो सकता। तर्क हमे वह बल नही देता जो प्रवृत्तियो पर विजय पा सके। प्रवृत्तिया बुद्धि की प्रेरणा को नहीं, भावना की प्रेरणा को ही अधिक प्रामाणिक समझती हैं। तर्क द्वारा प्रवृत्तियो को वश मे करना उसी तरह है जैसे कपड़े की चादर से समुद्र की लहरो को बाधना अथवा किसी दार्शनिक का युक्ति द्वारा किसी डाकू को चोरी से रोकना। तभी बहुश्रुत विद्वान् तार्किको का चरित्रवान् होना आवश्यक नही है। चरित्र-बल तर्क-बल से ऊपर है। ज्ञानी से सयतात्मा बडा होता है।[1] तपस्या का स्थान ज्ञान से ऊचा है। चरित्र-बल आत्म-बल है। बुद्धि से आत्मा गरीयसी होती है। दृढ इच्छाशक्ति आत्म-बल का ही दूसरा नाम है। सयम से प्रवृत्तियो पर विजय पाने के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि उसमे केवल इच्छाशक्ति की दृढता ही न हो, बल्कि सबल होने का विश्वास भी पूरा हो।

आत्म-विश्वास जीवन-युद्ध का अजेय अस्त्र—आत्म-विश्वास सयम की अनिवार्य शर्त है। जिसका अपने पर से ही विश्वास उठ चुका हो, वह प्रवृत्तियो से कैसे लडेगा ! जीवन का युद्ध प्रतिक्षण चलता रहता है। मनुष्य का मन एक युद्ध-क्षेत्र है। यहा परस्परविरोधी प्रवृत्तियो का सघर्ष हर समय चलता रहता है। एक समय की पराजय का अर्थ सदैव की पराजय नही हो सकता, क्योकि दोनो प्रवृत्तिया मनुष्य के मन की ही दो विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तिया हैं। मैं यह नही मानता कि हम उन प्रवृत्तियो को दैवी या आसुरी, दो भिन्न श्रेणी के विभागो मे बाट सकते हैं। उनमे न कोई आसुरी है, न कोई दैवी। दोनो ही मानुषी प्रवृत्तिया हैं। अपनी प्राकृत अवस्था मे दोनो ही प्रकार की प्रवृत्तिया कल्याणकारी होती हैं। उनकी समुचित व्यवस्था हो तो दोनो समान रूप से हितकर हैं। दोष हमारी व्यवस्था का है। निर्बलता हमारी अपनी है, जो अपना सारथिपन छोडकर इन्द्रिय-रूपी घोडो को मनमानी राह जाने की छुट्टी दे देती है।

आत्म-विश्वास के बिना आत्म-सयम असभव है। आत्म-विश्वास-

---

1 श्रद्धावान् लभते ज्ञान तत्पर सयतेन्द्रिय ।—गीता

रहित व्यक्ति निर्भय नही बन सकता। सयम की सफलता के लिए सफलता पर विश्वास होना आवश्यक है, नही तो वह प्रयत्न ही नही करेगा, मझधार मे ही थककर प्राण दे देगा। विश्वास के लिए श्रद्धा भी अपेक्षित है। अपने से महान् शक्ति पर विश्वास को ही श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धानिष्ठ होना सयम मे सहायक होता है।

हार मे जीत—पराजय के क्षणो ने ही ससार मे बडे-बडे विजेता और महान् पुरुष बनाए हैं। पराजय के क्षण प्रत्येक जीवन मे आते हैं। असफलता से प्रत्येक मनुष्य की भेंट होती है। किन्तु पराजय और असफलता को प्रत्येक मनुष्य अपनी दृष्टि से देखता है। कुछ लोग पहली हार से ही निढाल होकर सदा के लिए बैठ जाते हैं, असफलता की पहली झपट मे ही वे निश्चेष्टता के शिकार हो जाते हैं। दैव ही विपरीत है, सारा जमाना दुश्मन है, हम कमजोर हैं, क्या करें, आदि बहाने उन्हे भविष्य के लिए नपुसक बना देते हैं। दूसरे कुछ लोग ऐसे है जो पहली हार से सबक सीखकर दूसरी मुहिम की तैयारी शुरू कर देते हैं। दूसरी हार भी उन्हे नया सबक देती हैं। हर हार के बाद उनका मन नये अनुभव पाने की खुशी मे नाच उठता है। प्रत्येक पराजय उन्हे उनकी कठिनाइयो का नया ज्ञान देती है, और कठिनाइयो को हल करने की नई सूझ सुझाती हैं। हारकर जब वे फिर उठते हैं तो उन्हे यह सतोष होता है कि 'चलो, एक पडाव और तय हो गया, अब मजिल साफ नज़र आने लगी है।'

असफलता को जीवन की एक साधारण-सी घटना ही समझना चाहिए। ठोकर खाकर मनुष्य को यह देखना चाहिए कि ठोकर उसने क्यो खाई। वह सही रास्ते पर ही जा रहा था, या रास्ता भूलकर किसी और दिशा मे चल पडा था। ऐसी अवस्था मे वह ठोकर उसे सावधान करने के लिए आती है। वह उसे कहती है, "अभी बहुत दूर नही आए हो, यह रास्ता तुम्हारा रास्ता नही है, अब भी लौट जाओ।" यदि वह अपने रास्ते पर जा रहा है तो उसे सोचना चाहिए कि उसने रास्ते का पत्थर पहले क्यो नही उठा दिया। रास्ते पर चलते हुए उसका ध्यान कही और तो नही था ? उसका मन अपने निर्धारित आदर्शों से भटक तो नही गया था ? कही उसकी एकलक्षता पथभ्रष्ट तो नही हो गई ? उसका

ध्यान अनावश्यक चीजो पर, अनुपयोगी मनोरजनो मे विभक्त तो नही हो गया। जीवन के लक्ष्य को मनुष्य नितात तन्मय होकर ही बेध सकता है। आधे दिल से छोडा हुआ तीर निशाने पर नही लगता। अनमने भाव से चलनेवाला राही ठोकर पर ठोकर खाता है। अव्यवस्थित चित्त मे चलता हुआ पथिक ही पराजय की ठोकरें खाता है। ठोकर खाने के बाद उसे फिर से तन्मय होकर निशाना बेधने की तैयारी करनी चाहिए। पराजय व असफलता की घडियो से हम प्रेरणा और उत्साह ग्रहण करना सीखें तो सफलता हमारी सहचरी बन जाए।

असफलता मे सफलता की प्रेरणा—बच्चे के हाथ मे खिलौना देकर यदि आप उससे छीन लें और बार-बार देने का अभिनय करते हुए भी उसे न दें तो बच्चा उसे पाने की पूरी शक्ति लगा देगा। वह हार नही मानेगा। हर बार हाथ मे आई चीज के फिसल जाने के बाद उसे पकडने का सकल्प उसके मन मे दृढ से दृढतर होता जाएगा। 'अबके जरूर पकड लूगा—अबकी बार—अगली बार—अच्छा, इस बार मजाल है हाथ से निकल जाए!' यह भावना उसके मन मे पक्की होती जाती है। कारण यह कि बच्चे का मन स्वस्थ है। उसमे घुन नही लगा। उसकी नसो मे नया खून चलता है। निराशा के रोग से वह प्रताडित नही हुआ। मनुष्य का मन भी यदि अनावश्यक अप्राकृत उद्वेगो से हताहत नही होगा तो उसका जोश हर असफलता की आधी से बढता ही जाएगा। असफल होकर सफलता पाने का जोश ज्वार-भाटे की तरह बढता ही जाएगा।

भगवान् कहता है, "हे मनुष्य! उत्कर्ष के मार्ग पर चढना ही तेरे जीवन का नियम है, नीचे गिरना नही। उत्कृष्ट जीवन बिताने के लिए मैंने तुझे अनेक शक्तियो से समर्थ किया।"[1]

जीवन के अन्तिम वर्ष नोआखाली का दौरा करते हुए गाधीजी ने लिखा था, "यह सच है कि दिन से पहले रात का अधेरा होता है, किन्तु मैं अभी तक अधेरे मे हू। मैं सत्य और अहिसा की परीक्षा मे और उनके प्रयोग मे अभी तक सफलता नही पा सका हू। इसी कारण मैं अभी

1. उद्यान ते पुरुष नावयान जीवात् त दक्षताति कृणोमि।

तक अंधेरे की बात करता हू।"

गाधीजी जैसे लोग भी अपने जीवन को असफल कह गए हैं। सफलता का अभिमान तो कोई कर ही नही सकता। सफल वही है जो असफलता पाने की नई प्रेरणा देखता है। विजयी वही होता है जो हर हार मे जीत की झलक देखता है, जो रात के तारो मे सूरज की स्वागत-ध्वनि सुनता है।

ठंडे मन से अपने-अपने आवेशो का मूल कारण खोजिए—दूसरी शर्त भी बड़ी आवश्यक है। हम शरीर की अस्वस्थता के रोग-विश्लेषण के लिए बडे-बडे चिकित्सको के पास जाते हैं, हजारो रुपये खर्च करते हैं, किन्तु मन की अस्वस्थता का मूल कारण जानने के लिए कुछ नही करते। यहा तक की स्वय भी अपनी मानसिक अस्वस्थता का निदान ढूढने का यत्न नही करते। हम स्वय भावनाओ की आधी मे बह जाते हैं। अपनी वासना को हम इतना अतिरजित रूप दे देते हैं कि तिल का ताड बन जाता है। बुद्धि द्वारा विश्लेषण करके देखें, ठडे दिमाग से अपने आवेशो का मूल कारण खोजें तो हम स्वय आश्चर्य मे पड जाए। अग्रेज कवि ने बडा अच्छा कहा है

"जीवन के विशाल समुद्र मे हमारी नौकाए चल रही हैं, जब वासनाए आधी बनकर आती हैं तो बुद्धि के मस्तूल हमारी नौका को लक्ष्य की ओर ले जाते हैं।"[1] वासना प्राय आधी बनकर ही आती है। यह सदा अपने असली स्वरूप से अधिक बडी और रगीन बनकर आती है। वह रग सच्चा नही होता। पाप स्वय रगीन नही होता, हमारी वासना उसे रगीन बना देती है। जैसे डूबता हुआ साझ का सूरज आकाश पर छितरी हुई बादल की धुधली-धुधली टुकडियो को तरह-तरह के रग मे रग देता है, उसी तरह हमारी वासना ससारी वस्तुओ को तरह-तरह के रगो मे रग देती है। तभी कहते हैं कि 'उसे कोई मेरी आख मे देखे।' पोप ने कहा था

1. On life's vast ocean diversely we sail,
Reason is the cord but passion is the gale

"छूतग्रस्त व्यक्ति को सभी छूतग्रस्त नजर आते है। पीलिये के मरीज को सब कुछ पीला ही दिखाई देता है।"[1]

दृश्य वस्तु का सौंदर्य देखने वाले की आख में ही होता है। उसीकी भावना उसे सुन्दर बनाती है। दूसरो के लिए वही वस्तु बहुत सामान्य होती है। हम जव वासना की आधी मे वह रहे हो तव हमे कोगिश करके एक तटस्थ व्यक्ति की तरह वस्तु-स्यिति को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। वासना का ज्वर उतरते ही हम देखेंगे कि जिस वस्तु की ओर हम खिचे जा रहे थे वह बहुत मामूली है। काम-ज्वर उतरने पर बडे से बडे कामी को भी अपनी मूर्खता पर पश्चाताप होता है। इस पश्चाताप से वचने का उपाय यही है कि हम प्रवृत्तियो के प्रवाह मे वहने से पहले ही तटस्थता की मनोवृत्ति धारण करने का अभ्यास करें। दुख यही है कि हम ऐसा नही करते। इसके अलावा हम अपने ज्वर का निदान ढूढते समय अपने चिकित्सक को ही नही, स्वय अपने को भी धोखा देते हैं।

कला की आड मे कामदेव की पूजा—अपनी साधारण काम-प्रवृत्ति को आत्मिक मिलन का नाम देकर हम न केवल दुनिया को ठगते है, अपने को भी ठगते हैं, मैं ऐसे अनेक मित्रो को जानता हू जो किसी कठिन आदर्श-पूर्ति के परदे मे अपने काम-ज्वर को शात करते है। कला के नाम पर मन की वासना को तृप्त करना कलाकारो का प्रकृतिसिद्ध अधिकार बन गया है। प्रेयसी के नख-शिख वर्णन को साहित्य कहकर साहित्य-मन्दिर के पुजारी वनना अधिकाश साहित्यिको ने सीख लिया है। काम-चेष्टाओ को तालवद्ध भाव-भगियो द्वारा प्रकट करके उसे नृत्य-कला की उपासना का नाम दे दिया जाता है। सगीत भी निरोधित कामवृत्तियो को स्वर-ताल मे बाधकर प्रकट करने की एक कला बन गई है। मैं काम-प्रवृत्ति या उसके प्रकाशन के इन विविध माध्यमो को बुरा नही समझता। मनुष्य की अन्य स्वाभाविक प्रवृत्तियो की तरह यह भी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का कला-रूप मे प्रकाशन भी बुरा नही है, क्योकि कला

---

1. All seems infected that the infected spy,
All looks yellow to the jaundiced eye.

मे वह स्वय सयत हो जाती है। बुरा यह है कि हम सच्चाई को स्वीकार न करें और अपने को धोखा दें। धोखा देने का नतीजा यह होता है कि हम उनमे अतिशय प्रवृत्त हो जाते हैं। काम-वासना को वासना मानकर उसका सयम करना आसान है। किन्तु उसे साहित्य और कला की मूर्तियो मे अवतरित करके उसकी उपासना से मुक्ति पाना कठिन है। तब हम यह अनुभव करते हैं कि इस कला-रूप मे वासनारत रहने की हमे छूट मिल गई है। जो साहित्यकार या कलाकार अपनी वृत्तियो के वश मे होकर अपनी रचना-शक्ति को वासनाप्रधान कृतियो मे खर्च कर देता है, वह न केवल अपना शत्रु है, बल्कि समाज का भी शत्रु है। उसका ज़हर कला के रूप मे मीठा बनकर सारे समाज को अपनी ओर खींचता है। ऐसा कलाकार सम्पूर्ण समाज के चरित्र को विषाक्त बनाता है।

आत्मवंचना संयम के मार्ग की रुकावट—इस सामाजिक प्रवचना के अतिरिक्त वैयक्तिक प्रवचना भी कम नही है। मेरे एक मित्र ने मुझे चिट्ठी मे लिखा कि 'मैं अपने तीन भाइयो मे और अनेक साथियो मे रहता हुआ भी बडा अकेलापन अनुभव करता हू। मैं चाहता हू, मेरी कोई बहिन होती। अपने साथियो मे मुझे कोई दिलचस्पी नही रही है। क्या मेरी इच्छा अस्वाभाविक या असाधारण है?' मैंने उसे जवाब दिया कि 'तुम्हारी इच्छा मे कुछ भी असाधारणता नही है। तुम अब 22-23 वर्ष के हो, इस उम्र मे किसी लडकी का साहचर्य चाहना बहुत स्वाभाविक इच्छा है। किन्तु तुम अपने को धोखा दे रहे हो, तुम्हे बहिन नही, पत्नी की आवश्यकता है। शादी किए बिना तुम्हारी बेचैनी दूर न होगी।'

मेरी एक मित्र लडकी को घुघराले बालो से सख्त नफरत थी। होटल मे चाय पीते समय एक घुघराले बालोवाला नौजवान हमारे पासवाली मेज़ पर आ बैठा। वह लडकी उसे देखकर इतनी विक्षिप्त हो गई कि बिना चाय पिए वहा से उठना पडा। पूछने पर वह अपनी घृणा का कोई स्पष्ट कारण न समझा सकी, किन्तु बाद मे मालूम हुआ कि दो वर्ष पूर्व कश्मीर मे उसका परिचय एक घुघराले बालोवाले नौजवान से हुआ था। वह लडका बहुत सुन्दर व सज्जन था। दोनो मे प्रेम हो गया था। किन्तु लडके को अचानक कश्मीर छोड़कर जाना पडा। लडकी साल-भर उसके

पत्र की प्रतीक्षा करती रही। उसके अचेतन मन मे अब भी वह प्रतीक्षा दवी हुई है। प्रत्यक्ष रूप से वह उसके लिए उदासीनता ही प्रकट करती है। घुघराले वालो से उसे तभी से चिढ है। वह कहती है, उसे इन बालो से घृणा है। किन्तु सच यह है कि वह अपने को धोखा दे रही है। इस घृणा पर वह तब तक सयम नही कर सकेगी जब तक वह प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से यह स्वीकार नही कर लेगी कि वस्तुत घुघराले बालो से उसे प्रगाढ प्रेम है, गहरी आसक्ति है। प्रेम की भावना ही अपनी अभिव्यक्ति न पाकर घृणा की भावना मे वदल जाती है। इस परिवर्तन को जानते हुए भी हम अनजान-से वने रहते है। यह आत्मवञ्चना है। इस आत्मवचना का सबसे बुरा नतीजा यह होता है कि हम उस प्रवृत्ति का सयम नही कर सकते। सयम के मार्ग मे यह बाधा हमे सफल नही होने देती।

निरोधित भावनाएं विकृत होकर मनुष्य को धोखा देती हैं—भावनाओ का स्वरूप किस तरह विकृत होता रहता है और यह विकार हमे सयमित जीवन विताने मे कितनी वाधाए डालता है, इसका एक और नमूना मुझे याद आता है। मेरे एक मित्र ने मुझे यह लिखा कि 'मुझे यह स्वीकार करते हुए दु ख होता है कि परस्त्रीगमन को पाप समझते हुए भी मैं वेश्यागामी हो गया हू। स्त्रियो के प्रति मेरा विशेष आकर्षण नही है, कुछ अरुचि ही है। भोग की इच्छा ने मुझे कभी नही सताया। फिर भी मुझमे यह व्यसन घर कर गया है। समझ नही आता है कि किस तरह इससे छुटकारा पाऊ। तुम ही वताओ, यह कैसे हो सकता है ?'

प्रेम के पर्दे मे घृणा की चिनगारिया—मैं उस मित्र को देर से जानता हू। वह स्वभाव से व्यसनी या कामुक नही है। कुछ समय तो मेरे लिए भी यह परिवर्तन आश्चर्य का विषय बना रहा किन्तु उसके घरेलू जीवन से जानकारी होने के कारण मैं समझ गया कि रोग का निदान क्या है। वात यह थी कि उसकी स्त्री जरा अभिमानिनी थी। मेरे मित्र को उसका दवदवा मानना पडता। वह स्वय अभिमानी था, दब्बू स्वभाव का नही था। किन्तु घर की शान्ति वनाए रखने के लिए वह स्त्री के आगे दव जाता था। स्त्री का शासन मान लेता था। उसकी स्त्री को सतोष हो जाता था कि वह घर पर राज्य कर रही है। किन्तु उसे यह नही मालूम था कि

वस्तुत वह पति के दिल मे अपने लिए घृणा के बीज वो रही है। शासित और शासक मे केवल घृणा का सम्बन्ध रह सकता है। धीरे-धीरे उसके पति के हृदय मे अपनी स्त्री के लिए तीव्र घृणा भर गई। पत्नी के लिए ही नही—स्त्री-मात्र के लिए। वह समझने लगा कि सभी स्त्रिया शासन करना चाहती हैं। उसका यह भ्रम तब दूर हुआ जब उसे मालूम हुआ कि एक स्थान ऐसा है जहा वह भी स्त्री पर शासन कर सकता है, पैसा देकर स्त्री को कुछ देर के लिए गुलाम बना सकता है। उसके हृदय मे स्त्रियो के प्रति बदला लेने की जो भावना दबी हुई आग की तरह सुलग रही थी, वह भभक उठी। तभी से वह वेश्यागामी हो गया। वेश्या के पास वह प्रेम-वश नही, घृणावश जाता है। दुनिया समझती है, वह वेश्या मे प्रेम करता है, किन्तु वस्तुत यह घृणा की ही चरम सीमा है।

किन्तु यह बात वह स्वय नही जानता। ईमानदारी से अपनी भावनाओ का विश्लेपण करे तो वह जान सकता है। लेकिन अब वह विकृत भावनाओ की आधी मे इतनी दूर बह गया है कि तटस्थ होकर सोचने की शक्ति ही खो बैठा है। वह अपने को धोखा दे रहा है। उसका प्रेम, उसकी घृणा, उसका सारा जीवन ही एक धोखा बन गया है। उसकी पत्नी भी धोखे मे है। वह पति को शासन मे रखकर घर की व्यवस्था करने मे ही अपने कर्तव्यो की इतिश्री समझती है।

प्रत्येक प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति का मार्ग मिलना चाहिए—अपने इस मित्र को मैंने यह सलाह दी कि वह अपने दबे हुए आत्मसम्मान को किसी रचनात्मक कार्य मे लगा दे तो उसका जीवन सुधर जाएगा। प्रत्येक प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति का मार्ग मिलना चाहिए। यदि स्वाभाविक मार्ग नही मिलेगा तो वह अस्वाभाविक मार्गों मे फूट निकलेगी। किन्तु उसे स्वाभाविक मार्गो मे लगाने से पहले उसे अपने को धोखा देने की कोशिश करनी होगी। सयम की यह एक अनिवार्य शर्त है।

4

आत्मनिरीक्षण द्वारा मानसिक रोगों का उपचार

अचेतन मन मे छिपी भावनाएं ही हमारा पथ-प्रदर्शन करती हैं—मनुष्य को सदा अपने कार्यों की प्रेरक भावनाओ को परखते रहना चाहिए। तभी वह अपने को पहचान पाएगा। कठिनाई यह है कि ये मनोभावनाएं प्राय स्पष्ट नही होती। हम ऐसे बहुत-से काम करते हैं जिनकी प्रेरणा का मूल कारण क्या है—यह हम स्वय नही जानते। स्वस्थचित्त व्यक्ति को इन मूल कारणो की, जो अचेतन मन मे छिपे रहकर हमारे चेतन मन को प्रभावित करते रहते हैं, छानवीन करते रहना उचित है। और यह भी उचित है कि उन्हे अचेतन और परोक्ष मन से निकालकर प्रत्यक्ष की दुनिया मे लाया जाए। किसी भी सूरत मे यह वरदाश्त नही करना चाहिए कि वे शिखण्डी की तरह अचेतन मन मे छिपकर हमे घायल करते रहे।

उचित तो यह सब है, किन्तु होता इसके विपरीत ही है। हमारा जीवन इन परोक्ष भावनाओ से भरा रहता है। थोडे-से आत्मनिरीक्षण से हमे इस सच्चाई का अनुभव हो जाएगा। ऐसी अनेक घटनाए हमे अपने जीवन मे मिल जाएगी जो इन परोक्ष भावनाओ के प्रभाव को सूचित कर देंगी।

हमारा स्वार्थ हमारे मनोभावो के सच्चे अध्ययन मे बाधक है—किन्तु आत्मनिरीक्षण भी कठिन काम है। हमारी स्वार्थ-वृत्तिया हमे अपने मनोभावो का सच्चा अध्ययन नही करने देती। यदि हम एक व्यक्ति से किसी कारण स्नेह करते हैं तो उसकी एक भी बुराई हमारे सामने नही आती, और यदि एक से द्वेष करते हैं तो उसके गुण भी हमारे लिए दुर्गुण वन जाते हैं। यदि हमे कोई ताश मे हरा दे तो हम कहते हैं—"उसके पत्ते अच्छे थे", और यदि हम हराए तो यह हमारी बुद्धि का कौशल हो जाता है। कोई दूसरा धन कमा ले तो हम उसे वेईमानी व ठगी की कमाई

घोषित करते है, और यदि हम स्वय कमाए तो वह हमारी व्यापारिक कुशलता हो जाती है।

जब हमारी मनोभावनाए पक्षपात से भरी होती हैं—जब हम किसी अजनबी से मिलते हैं तो हम तुरन्त किसी जाने-पहचाने व्यक्ति से उसका सादृश्य ढूढने लगते हैं और उसके प्रति वही मनोवस्था बना लेते है जो तत्सदृश व्यक्ति के प्रति पहले से बनी होती है। नतीजा यह होता कि मनुष्य की मनोभावना अनेक निष्कारण पक्षपातो से भर जाती है। एक व्यापारी को किसी ऐसे व्यक्ति ने ठगा था जिसके अगले दात पर सोने का खोल चढा था। अब वह सोना मढे दातवाले किसी भी व्यक्ति से व्यापार-सम्बन्ध स्थापित नही करता। उसकी पहली नज़र आगन्तुक के दातो पर जाती है।

मनोवस्था की विकृति का एक रूप और भी प्रच्छन्न होता है। हम एक बात के विपक्ष मे केवल इसलिए हो जाते हैं कि हमारे किसी मित्र ने उसका विरोध किया था और दूसरी के पक्ष मे इस कारण हो जाते हैं कि हमारे दुश्मन ने उसका विरोध किया था। सच तो यह है कि हमारे राग-विराग की प्रेरक भावनाओ को परखना बडा ही कठिन काम है। कोई भी माता अपनी पुत्रवधू मे कोई गुण नही देखती। इस पक्षपात का कारण सारी दुनिया जानती है। फिर भी आश्चर्य यह है कि जो यह काम करता है वह उससे अनभिज्ञ रहता है। वह दूसरो की आलोचना कर लेगा, लेकिन स्वय अपनी आख का शहतीर नही देख सकेगा।

हमारी बाह्य चेष्टाए मनोगत भावनाओ को धोखा देती हैं—खुद आदमी अपने से ही किस तरह ठगा जाता है, इसके अनेक उदाहरण हैं। उस समय उसकी बाह्य चेष्टाए उसके मनोभावो के बिलकुल विपरीत होने लगती है। उसकी भावना उसे रोने को मजबूर कर रही होगी लेकिन वह अट्टहास करता होगा। जब उसके दिल मे अपनी स्त्री के लिए गहरी घृणा बसी होगी, तभी वह प्रेम के मधुर वाक्यो की वर्षा करेगा। मन मे वह जला बैठा होगा, पर अपनी जलन को छिपाने के लिए असाधारण मीठे शब्दो से स्वागत करेगा। मूर्ख व्यक्ति प्राय वाचाल हो जाते हैं। मूर्खता छिपाने और अपने को चतुर बताने के लिए वे अनुचित रूप मे अधिक

बोलने लगते हैं। जब हमे अपनी वेशभूषा के सुन्दर होने का पक्का निश्चय होता है तो हम चुप रहते हैं, उसकी सुन्दरता का विज्ञापन नही करते, किन्तु जब हमे सन्देह होता है तो हम हर किसीसे उसकी सुन्दरता का वर्णन सुनना चाहते हैं।

हमारे अचेतन मन मे छिपी हुई मनोभावनाए ही प्राय' हमपर अधिक प्रभाव डालती हैं। इसलिए उनका सयम करना अधिक आवश्यक है। किन्तु यह काम जितना आवश्यक है उतना ही अधिक कठिन भी है। इस कठिनाई को आसान बनाने का पहला उपाय यही है कि हम उनको अचेतन मन की गुफाओ से निकालकर चेतन मन पर लाए, उनके स्वरूप को पहचानें, उनके प्रभावो से परिचय पाए। इसके लिए हमे अपना निष्पक्ष आलोचक बनना होगा।

सयम की तीसरी शर्त यह है कि हम अपनी प्रवृत्तियो से सदा पद-दलित रहने के स्थान पर स्वस्थ जीवन बिताने की अभिलाषा रखते हो।

मनुष्य के अधिकाश शारीरिक रोगो का मूल कारण मानसिक अस्वस्थता—स्वास्थ्य पर मन की असयत प्रवृत्तियो का प्रभाव अवश्य पडता है। साधारणतया उसे शारीरिक विकार समझकर केवल शारीरिक चिकित्सा की जाती है। मानसिक चिकित्सा का प्रचलन अभी हाल ही मे हुआ है। मन के चिकित्सको का कहना है कि मनुष्य के अधिकाश रोगो का मूल कारण ही मानसिक अस्वस्थता है। वस्तुत मन और शरीर की वृत्तिया परस्पर इतनी गुथी हुई हैं कि एक का दूसरे पर प्रभाव पडता ही है। उन्हे पृथक् नही कर सकते। शारीरिक चेष्टाओ का प्रभाव मन पर पडता है और मानसिक वृत्तियो का प्रभाव शरीर पर पडता है।

शारीरिक वृत्तियो का मनुष्य के मन पर जो प्रभाव पडता है वह अधिक अस्पष्ट नही है। आज का जीवन बहुत हलचल और दौड-धूप का है। सघर्ष की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढती ही जाती है। धन कमाने और समाज मे ऊचे दर्जे के लोगो मे गिने जाने की महत्त्वाकाक्षा ने सबको पागल बना दिया है। ऐसे कार्यव्यग्र आदमी हर समय आधी की तरह दौडते नजर आते हैं। वे कभी विश्राम नही करते। दिन-भर दफ्तर या दुकान पर थकने के बाद जब वे घर आते हैं तो भी विश्राम के लिए नही

ठहरते। कोई कमेटियो मे जाता है, तो कोई सिनेमाघर या नाचघर मे।

थकान हमारी रोगावरोधक शक्ति को नष्ट कर देती है—नतीजा यह होता है कि एक थकान-सी उनके शरीर के अवयवो मे समा जाती है। दिल की धडकन बढ जाती है, ऐसे समय भी यदि वे विश्राम न लें तो उनका मानसिक विराम हो जाता है। हमारे शरीर मे गुर्दों के ऊपर दो ग्रथिया रखी हुई है, जिन्हे 'ग्लैड्स आव फ्लाइट' कहा जाता है। जिसका काम ही शरीर को आनेवाले भय से सावधान करना है, किन्तु इन ग्रथियो को भी यदि विश्राम न मिले, मनुष्य निरन्तर आधी की तरह दौडता रहे, तो शारीरिक विकार के चिह्न और भी स्पष्ट हो जाते हैं। पाचन-क्रिया मन्द पड जाती है, नीद आनी ही बन्द हो जाती है, और मासपेशिया ज़रा-से उत्तेजन पर उछलने को तैयार रहती है। उनकी अवरोधक शक्ति नष्ट हो जाती है। तब भी यदि मनुष्य काम करना न छोडे, विश्राम न ले तो ग्रथिया निर्जीव हो जाती हैं और त्वचा उस द्रव को बाहर निकालना बन्द कर देती है जो बाहर की बीमारियो के सम्पर्क मे रोगग्रस्त होने से शरीर को बचाता है।

आवेशो का सूक्ष्म प्रभाव शरीर के अवयवो पर पडता है—प्रत्येक आवेश—अत्यधिक भय, घृणा, काम, क्रोध—अपनी छाया हमारे चेहरे और शरीर के अन्य अवयवो पर छोड जाता है। हमे उन सूक्ष्म प्रभावो का पता नही लगता। तभी हम यह समझते है कि हमारे आवेश बादल की तरह उमडते है, और कुछ देर हमारे हृदयाकाश में गरजकर चले जाते हैं। उन्हे मनमाने उडने देने मे कोई हानि नही है। किन्तु दिल के आसमान मे वासना के उमडे हुए बादल तूफान बनकर किस तरह हमारे शरीर के प्राणद अवयवो को झझोड डालते हैं और हमारी शारीरिक यन्त्र-शाला के हर पुर्जे को अव्यवस्थित कर जाते हैं, इसका ज्ञान हमे तब तक नही होता जब तक हमारे शरीर की वासनाजन्य विकृतिया प्रत्यक्ष रूप मे हमारे सामने न आ जाए।

भय के कारण उन्निद्र रोग—भय की प्रतिक्रिया हमारे शरीर पर बडी अनिष्टकर होती है। यह हमारी अतडियो और पेट की मासपेशियो को अचेतन कर देता है। हृदय का कम्पन बढ जाता है। रक्त का दबाव

अनियमित हो जाता है। शरीर मे भय से मासपेशियो का तनाव इतना अधिक हो जाता है कि नीद आने मे कठिनाई होती है।

अमेरिका की कोलगेट यूनिवर्सिटी मे कुछ निद्रा-सम्बन्धी प्रयोग किए गए थे। उन प्रयोगो से मालूम हुआ कि सोए हुए मनुष्य का रक्त-दबाव बढ जाता है, यदि उसके पास से कोई भी चीज शोर मचाती हुई गुजर जाए। मासपेशियो का तनाव भी शोर से बढता है। अचानक शोर से हमारे शरीर की प्रतिक्रिया वही होती है जो भय के आवेश से होती है। दोनो की प्रतिक्रिया बिलकुल समान होती है, दुश्चिन्ता की भी यही प्रतिक्रिया है।

इन शारीरिक प्रतिक्रियाओ का नियन्त्रण असम्भव है—कठिनाई यह है कि हम इस प्रतिक्रिया का विरोध नही कर सकते और इनका प्रत्यक्ष अनुभव भी नही कर सकते। क्योकि रक्त का दबाव और मासपेशियो या पेट के पाचक अवयवो का तनाव उन स्नायु-केन्द्रो के अधीन है जो 'स्पिनल कोड' (पृष्ठवश के भीतर की नाडी) या मस्तिष्क के निचले भाग मे हैं। हम प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप मे इन प्रतिक्रियाओ का नियन्त्रण नही कर सकते।

यह काम हमारे मस्तिष्क के ही अधीन है। वह किसी भी आवेश को उपेक्षित कर देगा तो स्नायुकेन्द्र उसकी प्रतिक्रिया से बच जाएगे।

चूहो पर यह परीक्षण करके देखा गया है कि जो चूहे शान्त वातावरण मे रखे गए हैं, उनकी भूख अशान्त वातावरण मे रखे गए चूहो की अपेक्षा अधिक होती है। उनका शारीरिक विकास भी अच्छा होता है। उनकी आयु भी लम्बी होती है।

भावनाओं का पाचन-यन्त्र पर प्रभाव—आवेशो की प्रतिक्रिया जब मासपेशियो पर होती है तो भोजन के पुष्टिकर तत्त्व (ग्लाइकोजेन—शरीर-रचना मे शक्कर उत्पन्न करनेवाला एक पदार्थ) का बडा भाग मासपेशियो की क्षतिपूर्ति मे ही चला जाता है, फिर भी क्षतिपूर्ति नही हो पाती। प्रत्येक आवेश हमारे अग-अग को थका देता है।

आवेशो का हमारी पाचन-क्रिया पर सीधा प्रभाव पडता है। उनसे आक्रान्त होकर हमारा पाचन-यन्त्र अपना काम बन्द कर देता है, पाचक

द्रव, सलीवा आदि बनने स्थगित हो जाते हैं। भूख नहीं लगती, अजीर्ण सताने लगता है। तब डाक्टर लोग पूर्वपचित[1] भोजन की सिफारिश करते है। उसे मनुष्य आवश्यकता से अधिक खा जाता है। पाचक द्रवो का भोजन के साथ मिश्रण होना आवश्यक है। आवेशो के कारण जब द्रवों का बनना ही बन्द हो जाता है तो मिश्रण क्या होगा ? ज्यादा खा जाने से हमारी रक्त-वाहिनी नसो के मार्ग अवरुद्ध हो जाते हैं। नसो मे शुद्ध रक्त नही जाता।

हम तुतलाते भी भय के आवेश से आक्रात होकर ही हैं—अत्यधिक आवेशो के कुछ प्रभाव ऐसे हैं जो शरीर के भिन्न अगो पर बहुत स्पष्ट हो जाते हैं। तुतलाना[2] और अटककर बोलना[3] भी आवेशो का परिणाम है। चिकित्सक लोग इन रोगो का शारीरिक निदान ढूढते हैं, किन्तु अधिक प्रतिशत रोगियो का कारण प्राय मानसिक ही होता है। जिस व्यक्ति के आवेश सतुलित और व्यवस्थित है, और जो हीन भावना से पीडित नही है, वह कभी अटककर या तुतलाकर नही बोलेगा। तुतलाना कोई रोग नही है। यह केवल मानसिक अव्यवस्था है। जिन व्यक्तियो को अपने पर भरोसा नही होता, या जिन्हे अपने सगी-साथियो मे हीनता का व्यवहार मिलता है, वे तुतलाने लगते हैं। आत्मविश्वास की भावना को जागृत करना ही इस बीमारी का सबसे अच्छा इलाज है।

किसी आवेग की अवस्था मे शरीर की थकान बढ जाती है। मनोवैज्ञानिको का कहना है कि जब आवेशो की आग मे शरीर के पोषक तत्त्व जलते हैं तो शरीर उन पोषक तत्त्वो की क्षति अनुभव करता है। तभी हमे थकान अनुभव होती है। हम आवेशो पर सयम न करें तो यह थकान बढते-बढते शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर डालती है। शरीर की रोगावरोधक शक्ति क्षीण हो जाती है। क्षीण शक्तिवाले शरीर पर कोई भी रोग शीघ्र प्रभाव डाल लेता है।

कोई भी व्यक्ति रोगी शरीर के साथ जीना पसन्द नही करता।

---

1 Pre-digested
2 Stammering
3 Stuttering

नीरोग रहने के लिए आवेशो का सयम अनिवार्य. शन भी यही लक्ष्य की
रोगाक्रात रहेगा । अत स्वस्थ रहने की इच्छा भी मनु लक्ष्य ही न हो,
देती है । गति उसे सदा

सयम मे सफलता पाने की चौथी शर्त यह है कि मनुष्य इस बात
जीवन का, अपने अस्तित्व का या अपने कार्यों का प्रयोजन अवश्य
रूप से रहना चाहिए।

मानसिक विक्षेप से मृत्यु—मानसिक अवस्था के विकृत हो जाने से मनुष्य का मन ही नही, शरीर भी अस्वस्थ हो जाता है—यह बात मैं पहले कह चुका हू । वह अस्वास्थ्य इतना भयकर हो सकता है कि मृत्यु भी हो जाती है । शरीरशास्त्रवेत्ता ऐसी मृत्युओ का ठीक रहस्य बतलाने मे असमर्थ हैं, किन्तु इतनी सचाई को सब स्वीकार करते हैं।

युद्ध के समय बहुत-से योद्धा केवल गोली की आवाज़ से ही डर गए थे । गोली का उन्हे स्पर्श भी नहीं हुआ था । कुछ सैनिक थे, जिन्हे युद्ध की भीषण हत्याए देखकर इतनी ग्लानि हुई थी कि वे और अधिक न देखने की प्रबल इच्छा के प्रभाव से ही अन्धे हो गए थे ।

डाक्टरो ने इस सचाई को मान लिया है कि आकस्मिक उद्वेग, शोक, भय आदि से मनुष्य की मृत्यु हो सकती है । पचास प्रतिशत आदमी शारीरिक ह्रास से नही, मानसिक ह्रास के कारण मरते है । कोलम्बस अपने अफसर द्वारा धोखा दिए जाने के बाद बीमार पडकर जीवित नही रह सका । पराजय के आघात से सैंकडो मौतें होती हैं । एक औरत ने एक वृक्ष का फल भूल से खा लिया । उसने यह समझा कि वह फल उस वृक्ष का है जिसके सम्बन्ध मे यह किंवदन्ती मशहूर थी कि उसको खाकर मनुष्य जीवित नहीं रह सकता । वास्तव मे वह फल एक साधारण वृक्ष का था । किन्तु अपने मिथ्या भय और अन्धविश्वास के प्रभाव से वह 16 घटो के अन्दर ही मर गई । भूत-प्रेतो पर विश्वास रखनेवाले लोग अपने अन्धविश्वास से ही मर जाते हैं । अमेरिका के कुछ रेड इडियनो मे यह विश्वास है कि खासी और बुखार के साथ आनेवाली बीमारी मौत का पैगाम लेकर ही आती है । इसलिए वे खासी-बुखार के आते ही मौत की तैयारी शुरू कर देते हैं । इसके बाद उन्हे जीवित रहने की इच्छा ही नही रहती ।

द्रव, सलीवा आदि वनते,
सताने लगता है।
हैं। उसे मन
भोजन के
का

चरित्र-निर्माण
यक

व्यक्तित्व का निर्माण तभी होता
एक लक्ष्य को दृष्टि मे रखकर
या नैतिक आदर्श के नेतृत्व मे जव
करते हैं तभी चरित्र का निर्माण होता
न किसी लक्ष्य की साधना मे ही सभव
है। न केवल यह कि लक्ष्य के बिना सयम का कुछ अर्थ ही नही, बल्कि यह भी सच है कि सयम की प्रेरणा भी लक्ष्य-प्राप्ति की इच्छा बिना नही मिलती। माझी को यदि नदी के किनारे पहुचने की इच्छा न हो तो नौका को चलाने की प्रेरणा कौन देगा? जो लोग संसार की लहरो पर खेलना ही जिन्दगी समझते हैं वे कभी सयमित जीवन नही विताते। दूसरे तट पर पहुचने की इच्छावाले ही सयम से अपनी जीवन-नौका को एक निश्चित दिशा की ओर खेते हैं। अनेक नहरो द्वारा खेती को सीचने का लक्ष्य न हो तो नदी के वहते पानी को वाधने की आवश्यकता ही नही होती। केवल मनोरजन के लिए कोई पानी को नही वाधता। यदि वाधे तो भी उस अवस्था मे मनोरजन का लक्ष्य होता ही है।

सभव है मनुष्य के लक्ष्य का नैतिक मूल्य बहुत थोडा हो। यह भी मुमकिन है कि वह विलकुल स्वार्थपूर्ण और सकीर्ण हो। वह कैसा भी हो, नैतिक दृष्टि से वह भले ही निष्प्रयोजन और व्यर्थ हो, किन्तु हमारी स्वाभाविक प्रवृत्तियो के लिए उसका मनोवैज्ञानिक मूल्य तो वना ही रहेगा। यही लक्ष्य हमारी शक्तियो का, मन के सकल्पो और शरीर के प्रयत्नो का पथ-प्रदर्शन करेगा। यही लक्ष्य मनुष्यो के व्यक्तित्व को वनाता है।

लक्ष्य सदा स्पष्ट नहीं होता—लक्ष्य का जीवन मे इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी कभी कई मनुष्यो के सामने इसका स्वरूप स्पष्ट नही

होता । मनुष्य के मानसिक द्वन्द्वो का एक कारण भी यही लक्ष्य की अस्पष्टता होता है। ऐसा लगता है मानो उसका कोई लक्ष्य ही न हो, मानो उसके जीवन का कोई प्रयोजन ही न हो। यह अनुभूति उसे सदा असन्तुष्ट बनाए रखती है। और असन्तोष की यह प्रतीति ही इस बात का प्रमाण है कि इस हलचल के पीछे कोई न कोई लक्ष्य अवश्य है।

लक्ष्यहीन चेष्टा मनुष्यो को सयत नहीं बनने देती—यदि वह सुबह विस्तर से उठकर दिन-भर आवारागर्दी मे ही सन्तोष पा लेता है तो समझना चाहिए कि उसका लक्ष्य आवारागर्दी तक ही सीमित है। लक्ष्य-प्राप्ति का सन्तोष ही मनुष्य को सुखी बनाता है । हम दु खी तभी होते हैं जब हमारी प्रवृत्तियो की व्यवस्था सन्तोपप्रद रीति से न हो और सन्तोषप्रद व्यवस्था के लिए लक्ष्य की विद्यमानता आवश्यक शर्त है।

अपना लक्ष्य बनाना आसान होता यदि हमारी प्रवृत्तिया मिट्टी की तरह बेजान होती, और हम उसे अपने साचे मे ढालकर मनमाने खिलौने बना सकते । कठिनाई यही है कि हमारी प्रवृत्तिया इतनी सरल नही हैं। वे स्वय भी अपने को किसी न किसी भावना के साचे मे ढालती रहती हैं और उन भावनाओ के अनुरूप अपना रास्ता आप चुनती रहती हैं।

दो विरोधी लक्ष्यो का सन्तुलन कैसे हो—ये भावनाए भी परस्पर विरोधी होती है। मनुष्य को यह चुनना कठिन हो जाता है कि वह किस समय किस भावना को अधिक मूल्य दे । उस समय मनुष्य अपने निर्धारित लक्ष्य के अनुकूल ही चुनाव करता है। अनेक बार ऐसा होता है कि मनुष्य दो भावनाओ को एकसाथ मन मे पालता रहता है। एक देश का युद्ध जब दूसरे देश से होता है तो हमारी देशभक्ति की भावना का गृह-प्रेम की भावना से विरोध हो जाता है। तब हम, देश की रक्षा मे ही घर की सुरक्षा है, इस तर्क द्वारा अपनी प्रवृत्तियो की व्यवस्था करते हैं। उस समय हमारा देश-रक्षा का लक्ष्य प्रधान हो जाता है और यह व्यवस्था आदर्श व्यवस्था होती है। यदि इन भावनाओ का सामजस्य न हो सके और हम अपने लक्ष्य का चुनाव न कर सकें तो हमारी शक्तिया किसी भी कार्य मे प्रवृत्त नहीं होगी।

भावनाओ का निर्माण स्वय प्रसुप्त चेतना द्वारा होता रहता है। हमे

हीनता की भावना भी वही दबी रहती है। हम चेतन मन मे इनकी स्थान-पूर्ति विरोधी भावनाओ से करते रहते हैं। अचेतन मन मे दबी हुई हीन भावनाओ का उत्तर अतिशय आत्मगर्व से देते रहते है। यौन आकर्षण को हम आत्म-सम्मान की भावना से दबाए रखते हैं। दबाने की यह प्रेरणा हमे प्राय: सामाजिक व्यवस्था से मिलती हैं। भले-बुरे की परख भी हम समाज के नियमो की कसौटी पर ही करते हैं। समाज के नियम सदा सच्चे ही नही होते। इसलिए हमारा निग्रह भी सदा सच्चा नही होता।

अतिशय निरोध मनुष्य को कायर तथा दब्बू बना देता है—निग्रह-निरोध की अति भी मनुष्य के जीवन को निरानन्द और निष्क्रिय बना देती है। चारो ओर से दबा हुआ आदमी आत्मविश्वास खो बैठता है। उसे हर समय यही खतरा बना रहता है कि कही वह कोई ऐसा काम न कर बैठे जिसे दूसरे बुरा समझते हो। जीवन की धाराओ मे वह कभी उन्मुक्त मन से नही तैरता। वह कोई ऐसा ठहरे-से पानी का ताल ढूढ लेता है, जहा उसकी नाव बिना विशेष हिले-डुले पडी रहे। ऐसा आदमी कायर और दब्बू हो जाता है। वह पुरानी रूढियो के कुए का मेढक बनकर ही सारी ज़िन्दगी गुज़ार देता है।

सच्चा सयम संयत व्यवहार मे है—अत. निग्रह मे भी अति नही करनी चाहिए। अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए मनुष्य मात्र प्रयत्न करता है। मनुष्य स्वभाव से नैतिकता-प्रिय है। यदि वह किन्ही अस्वा-भाविक सघर्षो का शिकार नही है तो अपने सुख की पहचान वह स्वय कर सकता है। अपन नैतिक आदर्शो का चुनाव भी कर सकता है। निग्रह मे भी उसे इसी विचार-स्वातन्त्र्य से काम लेना चाहिए। सच्चे सुख की चाह करनेवाला स्वय सयम का मार्ग ग्रहण करेगा। सुखार्थी स्वय सयत हो जाता है। सयम का सच्चा भाव अग्रेजी के शब्द 'मॉडरेशन' मे आ जाता है। अग्रेजी की इस कहावत मे बडी सच्चाई है कि "सयत व्यवहार रेशम की ऐसी डोरी है जो सब कल्याणमयी भावनाओ को पिरोती है।"[1]

---

1 Moderation is the silken string running through all virtues

संयम को ही साध्य मानना भारी भूल है—सयम पर इतना अधिक वल देने का यह अभिप्राय नही है कि सयम ही चरित्र-निर्माण है अथवा यह कि सयम स्वय कोई साध्य वस्तु है। सयम का अभ्यास केवल सयम की पराकाष्ठा पाने के लिए नही हो सकता। यह तो चरित्र बनाने का एक साधन मात्र है। अन्य साधन भी हैं—यह भी उनमे से एक है।

कुछ लोग सयम को ही साध्य मानकर हठयोगी हो जाते है, या कायाकष्ट को ही धर्म मानकर हठवर्मी वन जाते हैं। शरीर को स्वाभाविक वृत्तियो के कार्य से वलपूर्वक रोकना शरीर और मन दोनो के लिए अस्वास्थ्यकर होता है। वासनाओ का परित्याग नही हो सकता। हा, उनका महत्करण[1] हो सकता है। महत्करण के लिए सयम पहली शर्त है। किन्तु अकेला सयम ही इस कार्य को पूरा नहीं कर सकता। महत्करण के लिए महत्कार्यो का ज्ञान और उन्हें सिद्ध करने की अन्य योग्यताए होनी चाहिए। यह महत्ता, यह सत्त्व, महान कार्यों के उपकरणो मे नही वल्कि महान् कार्यों की आत्मा मे होता है।[2] यही सत्य है जिसे हम चरित्र कहते हैं। यही वल है जिसे चरित्र कहा जाता है। तभी इसे आत्मवल भी कह सकते हैं। शरीर और बुद्धि के वल से यह सर्वथा भिन्न और ऊचे दर्जे का है।

अपने विश्वास के लिए मरना ही चरित्रपूर्ण जीवन की विजय है—आत्मवल या चरित्रवल की वहुत-सी अस्पष्ट-सी परिभाषाए हैं, किन्तु एक वात शत-प्रतिशत सच है कि जो व्यक्ति अपने विश्वास पर जान तक कुर्वान कर देता है उसे ही हम आत्मिक वल-सम्पन्न या दृढचरित्र मानते हैं। इसलिए चरित्र का सम्वन्व भावनाओ की व्यवस्था से है, वौद्धिक या शारीरिक व्यवस्था से नही। अपने विश्वासो पर सच्चा रहनेवाला ,और उनके लिए वडी से वडी कुर्वानी करनेवाला ही साधारण भाषा मे ऊचे चरित्र का कहलाता है। अत. यदि हम यह कहे कि चरित्र मे दृढता और कुर्वानी का महत्व सवसे अधिक है तो उपयुक्त ही होगा।

---

1 Sublimation
2 क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे।

उसके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसलिए प्राय यह कहना कठिन हो जाता है कि हमारे जीवन का प्रयोजन क्या है। कई प्रयोजन हमे अनुभव होते हैं—और हम उनमे से सबसे मुख्य प्रयोजन की ओर सकेत नहीं कर सकते।

परस्पर विरोधी प्रयोजनों में चुनाव—ये प्रयोजन यदि परस्पर विरोधी न हो तो हमारा यह अज्ञान कि कौन-सा प्रयोजन विशेष है या कौन-सा साधारण है, हमे कोई कष्ट नहीं देता। किन्तु यदि भावनाओ मे विरोध हो जाए तो हमारा मानसिक सन्तुलन विगड जाता है, मन मे एक तनाव-सा बना रहता है और हम यह नहीं कह सकते कि हमे क्या हुआ है।

घरेलू वातावरण मे पली हुई एक लडकी जब अचानक किसी युवक से मिलकर पुलकित हो उठती है तो उसकी दो भावनाओ मे विप्लव-सा हो उठता है। रूढिप्रिय माता-पिता को सन्तुष्ट रखने की उसकी भावना उतनी ही प्रबल है जितनी प्रथम प्रेम के आनन्द की भावना है। इसी तरह का विरोध मनुष्य के मन मे उसकी महत्त्वाकाक्षा की भावना और किसी नैतिक सिद्धान्त की भावना मे भी हो सकता है।

अपने आदर्शों के प्रति ईमानदार रहना ही पर्याप्त है—कौन-सी भावना श्रेष्ठ है, कौन-सी अश्रेष्ठ, इसका निर्णय सर्वसाधारण के लिए कठिन काम है। और कोई निर्णय सब पर लागू भी नहीं हो सकता। इसलिए अच्छा यही है कि अपने जीवन के लिए मनुष्य स्वय कुछ नैतिक आदर्शों का निर्धारण कर ले, और उन्हींकी कसौटी पर कर्तव्य-अकर्तव्य की परीक्षा करे। मनुष्य अपने जीवन के आदर्शों के प्रति ईमानदार रहे तो यह किंकर्तव्यविमूढता नहीं सताती।

वासनाओं का विलोप नहीं हो सकता, रूपान्तर ही हो सकता है—जो मनुष्य अपने नैतिक आदर्श या अपनी शक्तियो का प्रयोजन निर्धारित कर लेता है उसके लिए सयम बहुत बडी समस्या नहीं रहती। वह अपनी प्रवृत्तियो की धाराओ को सयमित करके उनका प्रवाह जिस दिशा मे चाहे मोड सकता है। यही सयम का सच्चा अर्थ है। किसी भी प्रवृत्ति या कामना का विलोप नहीं हो सकता। उन्हे दबाकर सर्वथा मृत नहीं

किया जा सकता। उनकी दिशा मे ही परिवर्तन किया जाना सभव है। अथवा उनमे रूपान्तर करना ही अभीष्ट है।

वासनाओ को रचनात्मक वृत्तियों मे संलग्न करना चरित्र-निर्माण का मुख्य काम है—प्रवृत्तियो का सर्वथा दमन या निरोध करने से मनुष्य का मन स्वस्थ नही रहता। हमारी प्राचीन पुस्तको मे सयम की उपयोगिता का वर्णन करते हुए कई जगह यह कहा गया है कि सब विषयो के प्रति सर्वथा अनास्था रखना ही मन को जीतने का उपाय है।[1] अथवा यह कि सदैव वासना का त्याग ही सयम कहलाता है।[2] मैं वासनाओ को मनुष्य का वैरी मानना ठीक नही समझता। वासनाओ को रचनात्मक वृत्तियो मे लगाना ही सच्चा सयम है। प्रकृति स्वय अपने गुणो मे प्रवृत्त होती है। जीवन स्वय एक प्रवृत्ति के सिवाय क्या है? निवृत्ति तो मृत्यु का ही दूसरा नाम है। प्रवृत्तियो का पूर्ण निग्रह हो ही नही सकता है।

सांप को पिटारी मे बन्द करने से ही उसका जहर दूर नहीं हो जाता—निग्रह द्वारा हम प्रवृत्तियो को नि शेष नही कर सकते। उनको शरीर से पृथक् नही कर सकते। निग्रह एक मानसिक प्रक्रिया है, जिसकी सहायता से हम अपनी अन्तरात्मा के प्रतिकूल विचारो को अपने चेतन मन से बाहर धकेलकर अचेतन मन को कैद कर देते हैं, जैसे सपेरा साप को थैली मे बन्द करता है, किन्तु थैली मे बन्द करने से साप का जहर दूर नही हो जाता। वह साप उस कैद मे अपने जहर के साथ बैठा रहता है।

हमारे अचेतन मन मे पलनेवाले सांपो का निग्रह—इस तरह हमारे अचेतन मन मे बहुत-से जहरीले साप बैठे रहते हैं। अनेक तरह की असामाजिक भावनाए, यौन आकर्षण हमारे मन की गुफा मे दबे रहते हैं।

---

1. विषयान्प्रति भो पुत्र सर्वानेव हि सर्वथा।
अनास्था परमा ह्येषा सा युक्तिर्मनसो जये॥—योग

2 सदैव वासनात्याग शमोऽयमिति शब्दित।
सदृश चेष्टते स्वस्या प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह कि करिष्यति॥—गीता

हीनता की भावना भी वही दवी रहती है। हम चेतन मन मे इनकी स्थान-पूर्ति विरोधी भावनाओ से करते रहते है। अचेतन मन मे दबी हुई हीन भावनाओ का उत्तर अतिशय आत्मगर्व से देते रहते हैं। यौन आकर्षण को हम आत्म-सम्मान की भावना से दबाए रखते हैं। दवाने की यह प्रेरणा हमे प्राय सामाजिक व्यवस्था से मिलती है। भले-बुरे की परख भी हम समाज के नियमो की कसौटी पर ही करते हैं। समाज के नियम सदा सच्चे ही नही होते। इसलिए हमारा निग्रह भी सदा सच्चा नही होता।

अतिशय निरोध मनुष्य को कायर तथा दब्बू बना देता है—निग्रह-निरोध की अति भी मनुष्य के जीवन को निरानन्द और निष्क्रिय बना देती है। चारो ओर से दबा हुआ आदमी आत्मविश्वास खो बैठता है। उसे हर समय यही खतरा बना रहता है कि कही वह कोई ऐसा काम न कर बैठे जिसे दूसरे बुरा समझते हो। जीवन की धाराओ मे वह कभी उन्मुक्त मन से नही तैरता। वह कोई ऐसा ठहरे-से पानी का ताल ढूढ लेता है, जहा उसकी नाव विना विशेष हिले-डुले पडी रहे। ऐसा आदमी कायर और दब्बू हो जाता है। वह पुरानी रूढियो के कुए का मेढक बनकर ही सारी ज़िन्दगी गुज़ार देता है।

सच्चा सयम संयत व्यवहार मे है—अत निग्रह मे भी अति नही करनी चाहिए। अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए मनुष्य मात्र प्रयत्न करता है। मनुष्य स्वभाव से नैतिकता-प्रिय है। यदि वह किन्ही अस्वाभाविक सघर्षों का शिकार नही है तो अपने सुख की पहचान वह स्वय कर सकता है। अपन नैतिक आदर्शों का चुनाव भी कर सकता है। निग्रह मे भी उसे इसी विचार-स्वातन्त्र्य से काम लेना चाहिए। सच्चे सुख की चाह करनेवाला स्वय सयम का मार्ग ग्रहण करेगा। सुखार्थी स्वय सयत हो जाता है। सयम का सच्चा भाव अग्रेजी के शब्द 'मॉडरेशन' मे आ जाता है। अग्रेजी की इस कहावत मे वडी सच्चाई है कि "सयत व्यवहार रेशम की ऐसी डोरी है जो सब कल्याणमयी भावनाओ को पिरोती है।"[1]

---

1 Moderation is the silken string running through all virtues

सयम को ही साध्य मानना भारी भूल है—संयम पर इतना अधिक बल देने का यह अभिप्राय नही है कि सयम ही चरित्र-निर्माण है अथवा यह कि सयम स्वय कोई साध्य वस्तु है। सयम का अभ्यास केवल सयम की पराकष्ठा पाने के लिए नही हो सकता। यह तो चरित्र बनाने का एक साधन मात्र है। अन्य साधन भी हैं—यह भी उनमे से एक है।

कुछ लोग सयम को ही साध्य मानकर हठयोगी हो जाते हैं, या कायाकष्ट को ही धर्म मानकर हठधर्मी बन जाते हैं। शरीर को स्वाभाविक वृत्तियो के कार्य से बलपूर्वक रोकना शरीर और मन दोनो के लिए अस्वास्थ्यकर होता है। वासनाओ का परित्याग नही हो सकता। हा, उनका महत्करण[1] हो सकता है। महत्करण के लिए सयम पहली शर्त है। किन्तु अकेला सयम ही इस कार्य को पूरा नही कर सकता। महत्करण के लिए महत्कार्यों का ज्ञान और उन्हे सिद्ध करने की अन्य योग्यताए होनी चाहिए। यह महत्ता, यह सत्त्व, महान कार्यों के उपकरणो मे नही बल्कि महान् कार्यों की आत्मा मे होता है।[2] यही सत्य है जिसे हम चरित्र कहते है। यही बल है जिसे चरित्र कहा जाता है। तभी इसे आत्मबल भी कह सकते हैं। शरीर और बुद्धि के बल से यह सर्वथा भिन्न और ऊचे दर्जे का है।

अपने विश्वास के लिए मरना ही चरित्रपूर्ण जीवन की विजय है—आत्मबल या चरित्रबल की बहुत-सी अस्पष्ट-सी परिभाषाए हैं, किन्तु एक बात शत-प्रतिशत सच है कि जो व्यक्ति अपने विश्वास पर जान तक कुर्बान कर देता है उसे ही हम आत्मिक बल-सम्पन्न या दृढचरित्र मानते हैं। इसलिए चरित्र का सम्बन्ध भावनाओ की व्यवस्था से है, बौद्धिक या शारीरिक व्यवस्था से नही। अपने विश्वासो पर सच्चा रहनेवाला और उनके लिए बडी से बडी कुर्बानी करनेवाला ही साधारण भाषा मे ऊचे चरित्र का कहलाता है। अत यदि हम यह कहे कि चरित्र मे दृढता और कुर्बानी का महत्व सबसे अधिक है तो उपयुक्त ही होगा।

---

1 Sublimation

2 क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महता नोपकरणे।

चरित्र ओजस्विनी शक्ति है, प्रसुप्त कल्पना नहीं—यह दृढता उसी मे होगी जो अपनी आत्मा को दुनियावी चीजो से ऊपर मानेगा, आत्मा की महत्ता से परिचित होगा, जिसे अपने पर भरोसा होगा, जो बहादुर होगा, ऊंचे आदर्शों की रक्षा के लिए क्षणिक आनन्द की कुर्बानी करना जानता होगा, जिसे भविष्य पर श्रद्धा होगी, जो स्वतन्त्र रूप से विचार करके किसी निर्णय पर पहुचने की क्षमता रखता होगा और उस निर्णय पर अटल रहने का बल रखता होगा। सच तो यह है कि चरित्र कोई प्रसुप्त गुण नही है। यह एक ओजस्विनी शक्ति[1] है। इसीके लिए हमारे शास्त्रो मे कहा गया है कि वह अणु से अणु और महान से महान बनकर मनुष्य के हृदय मे निवास करता है। मनुष्य अपनी वासनाओ पर विजय पाने के बाद ही उसकी महत्ता को देख सकता है।[2]

चरित्र ही आत्मबल का व्यावहारिक रूप है—महाभारत मे व्यास मुनि ने जब यह कहा था कि यदि आत्मा का किसीने संयम कर लिया है तो मौत भी उसका क्या बिगाडेगी,[3] तब आत्मा से उनका अभिप्राय चरित्र से ही था। गीता मे भी जब यह कहा है कि 'आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करो, आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, आत्मा ही शत्रु, आत्मा से ही आत्मा को जीतो'[4] तब प्रथम आत्मा का अर्थ सर्वत्र 'चरित्र' ही है। चरित्र से आत्मा का उद्धार करो। चरित्र ही आत्मा का बन्धु है, और दुश्चरित्र ही शत्रु है। चरित्र से ही आत्मा को जीतो, जितात्मा बनो, यही अभिप्राय हमारे ऋषियो का है और यही भगवान् बुद्ध का भी था,

---

1. Dynamic force

2 अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मन ॥

3 आत्मा संयमितो येन यमस्तस्य करोति किम् ।—महाभारत

4 उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मनो जित ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

जब उन्होने आत्मा के इस सच्चे मित्र का वर्णन किया था।

चरित्र विरासत मे नहीं मिलता—चरित्र का वल ही आत्मा का वल है। हम वैसे ही होगे जैसा हमारा चरित्र होगा। हम अपनी प्रवृत्तियो की व्यवस्था उसी योग्यता से कर सकेंगे जो योग्यता हम अपने चरित्र या अपनी आत्मा मे पैदा करेंगे। यह योग्यता विरासत मे नही मिलती। इसे निरन्तर अभ्यास से पैदा किया जाता है। चरित्र विरासत में नही मिलता। हम माता-पिता से कुछ स्वभावों[1] को अवश्य विरासत मे पा सकते हैं, किन्तु चरित्र कोई नही। कोई भी बच्चा जन्म से सच्चरित्र या दुश्चरित्र नहीं होता। हा, वह ऐसी परिस्थितियो में अवश्य पैदा होता है जहा उसका चरित्र सवल या निर्वल वन सके। किन्तु परिस्थितिया ही चरित्र को नही वनाती। परिस्थितियो के प्रति हमारे मन की जो प्रतिक्रिया होती है, वही चरित्र का निर्माण करती है। उस प्रतिक्रिया को स्वस्थ बनाना ही सवसे वडी शिक्षा है। यह शिक्षा अक्षर-विज्ञान की तरह किसी गुरु द्वारा नही दी जा सकती। मनुष्य स्वय अपना गुरु है। वह स्वय निरीक्षण से और अभ्यास से सीखता है। इस अभ्यास को क्रियात्मक रूप किस तरह दिया जा सकता है, या जीवन के नित्य प्रति के कार्यों मे किस तरह चरितार्थ किया जा सकता है, इसका अगले कुछ पृष्ठो मे विस्तार से निर्देश किया जाएगा।

6

अपनी महत्ता का ज्ञान आवश्यक है

अपने को जानना सबसे बड़ी सिद्धि है—मनुष्य अपनी छिपी हुई शक्तियो को पहचाने विना शक्तिशाली नही वन सकता। जो जैसा अपने

---

1 Characteristics

को जानता है, वैसा ही वन जाता है।[1] अपने को जानना सब सिद्धियो मे वडी सिद्धि है। लाखो मे से एक होता है जो अपने को जानने का यत्न करता है और उन यत्न करनेवालो मे भी कोई ही होता है जो वास्तव मे अपने को पहचान पाता है।[2]

जीवन की यात्रा मे सहस्रो आदमी आत्मा के द्वार तक पहुचते है, किन्तु थोडे ही हैं जो प्रवेश पाते हैं।[3]

हमारा अन्त.करण सदा निर्मल रहता है—अपने को पहचानना आसान काम नही है। हमारा असली व्यक्तित्व इतना स्पष्ट है, परदो मे नही रहता, फिर भी वह अपनी इच्छा से इतने परदो से छिपा हुआ है कि उसके असली स्वरूप का जानना टेढा काम है।[4]

हमारे प्राचीन विचारको का विश्वास था कि मनुष्य ईश्वर का वरद पुत्र है, अमृत-पुत्र है। बाइविल ने कहा है दुनिया का सपूर्ण साम्राज्य हममे है, उसे जानो। तुम्हारा हृदय ही ईश्वर का मदिर है।[5] जो अपने को जान लेता है, उसका चरित्र सदा उज्ज्वल रहता है। अपने आचरणो की परीक्षा के लिए उसे कही वाहर जाने की आवश्यकता नही रहती। आत्मतुष्टि ही उसके लिए कर्तव्य-अकर्तव्य के निश्चय मे सबसे बडी परख है। जिस काम की आज्ञा उसका हृदय-स्थित अन्त करण देता है वही वह

---

1 श्रद्धामयोऽय पुरुष यो यच्छ्रद्ध स एव स ।

2 मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वत ॥

3 Strait is the gate that leadeth unto life, and few there be that find it Few are chosen though many come —Bible

4 न कोई परदा है उसके दर पर, न रूहे-रोशन नकाव मे है।
तू आप अपनी खुदी से ऐ दिल, हिजाव मे है, हिजाव मे है॥

5 Behold, the Kingdom of God is within you You are the temple of God.

करता है।[1] जव उसे कोई सदेह होता है, तब वह अपना दिल टटोलता है। दिल का फैसला ही उसका फैसला होता है। हमारा हृदय ही हमारे कल्याण की कामना करता है। हम उससे कुछ छिपा नही सकते। वह हमारे विचारो और सकल्पो को भी देखता रहता है।[2] उसे हम धोखा नही दे सकते। वह सदा साक्षी वनकर हमारे हृदय मे रहता है। उसकी चेतावनी को अनसुनी करके, उसे असन्तुष्ट करके जो काम हम करते हैं, वह पाप है। उस पाप का दण्ड हमे उसी समय मिल जाता है।[3] हमारे मन को शान्ति नही मिलती।

अपने विशेष गुणों को पहचानकर उनका विकास करना चाहिए—चीन के विचारक कन्फूशस ने लिखा है—"अज्ञानी लोग ही दूसरे को जानने की कोशिशें करते हैं। ज्ञानी वही है जो अपने को जानने की कोशिश करता है।"[4] चीन के एक और दार्शनिक शिन्तो का विश्वास था कि मनुष्य स्वय दिव्य है, मनुष्य के हृदय से ऊचा कोई देवता नही है।[5]

अपनी महत्ता को न पहचानकर ही मनुष्य दुश्चरित्र वनता है। महत्ता से हमारा अभिप्राय केवल आध्यात्मिक महत्ता नही है। हमारा सकेत केवल उन विशेष गुणो से है जो मनुष्य के चरित्र को वनाते हैं। जो मनुष्य अपने विशेष गुणो को नही पहचानता, वह किसी भी क्षेत्र मे उन्नति नही कर सकता।

---

1 हृदयेनाभ्यनुज्ञात मन पूत समाचरेत्।
स्वस्य च प्रियमात्मन परितोषोऽन्तरात्मन ॥
स्वस्यैवान्तरपुरुष आत्मनस्तुष्टिरेव च।
क्षेत्रज्ञो नाभिशकते यमो देवो हृदि स्थित ॥—महाभारत

2 सता हि सदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय।

3 हृदि स्थित कर्मसाक्षी क्षेत्रज्ञो नास्य तुष्यति।
त यम पापकर्माण निर्मत्संयति पूरुषम् ॥—महाभारत, आदिपर्व

4 What the undeveloped man seeks is others, what the advanced man seeks is himself

5 There exists no higher deity outside the human mind Man himself is Divine

पर इतनी छा जाती है कि वे अपने को अकेले और नि सहाय अनुभव करने लगते हैं और अपनी नि सहायता का विज्ञापन करने के लिए दीनता-प्रकाशन का पेशा अख्तियार कर लेते है।

मां-बाप बचपन से ही दीनता का बीज बो देते हैं—अन्य मानसिक विकास की तरह दैन्य-भावना का विकास भी मनुष्य के बाल्यकाल की परिस्थितियो मे होता है। जिस बच्चे को मा-बाप का अत्यधिक लाड-प्यार हो, जिसे खुद गिर-गिरकर चलने का अभ्यास न डाला गया हो, बल्कि हर ठोकर पर गोदी की शरण दी गई हो, उसे बडे होकर जब हर कदम पर ठोकरें खानी पडें तो वह हारकर दीनता की शरण मे चला जाता है। जो बच्चे आसानी से लाखो का धन पा जाते है, उन्हे ज़िन्दगी का खेल खेलना नही आता। कभी यह खेल खेलना पड जाए तो वे पहली हार मे ही 'मैं और नही खेलता—सब मुझे धोखा देते हैं' कहकर एक कोने मे मुह फुलाकर बैठ जाते है। ऐसे अति लालित बच्चे जीवन-भर पछताते हैं। उन्हे सबसे लाड-प्यार या विशेष व्यवहार पाने की आशा बनी रहती है। वह न मिलने पर उनकी बेबसी बढ जाती है। वे अपने को हर समय दीन-हीन और असहाय अनुभव करते हैं।

परवशता दीनता की जननी है, श्रमजीवी परवश नहीं होते—दीनता की भावना मनुष्य के मन मे तभी जागती है जब वह किसी की वश्यता स्वीकार करता है। पेट के लिए, पैसे के लिए या किसी स्वार्थ से जब उसे दासता के जूए मे जुतना पडता है तो उसकी आत्मा मर जाती है। पर-वशता ही दीनता की जननी है। इसीलिए नौकरी करके पेट भरनेवाला आदमी प्राय दीनताग्रस्त होगा। किन्तु यह जरूरी नही कि हर नौकर दीन हो। जो मनुष्य अपनी योग्यता के भरोसे नौकर होगा, उसके स्वा-भिमान पर कभी आघात न पहुचेगा। उसकी नौकरी का अर्थ केवल परस्पर सहयोग होगा। वेतनभोगी होने का अर्थ ही दीन होने से नही है। वेतन पानेवाले भीख नही पाते, अपना हक पाते हैं। वे अपने श्रम का मूल्य अपने अधिकार मे लेते हैं।

अधिकार से अधिक चाहनेवाला ही दीन हो जाएगा—हा, जो अपने श्रम से अधिक मूल्य चाहेगा, उसे दीन बनना होगा। अपने श्रम का

उचित मूल्य पानेवाले वेतनभोगी प्राय पूजीपति को ही अपना गुलाम बना लेते हैं। जहा कोई अपने अधिकार की मर्यादा मे पारिश्रमिक लेता है, वहा दीनता का प्रश्न ही नही उठता।

सच्चा आदमी कभी दीन नहीं बनेगा—मेरा तो विश्वास है कि ससार की बाहर की कोई भी शक्ति सच्चे आदमी को दीन नही बना सकती। उसकी भीतर की वासना उसे दीन बनाती है। जब उसका लोभ बढ जाता है, तो वह अनैतिक उपायो से अपनी वासना को तृप्त करने के साधन जुटाना चाहता है। अपनी वासनाओ का गुलाम बनकर ही वह परिस्थितियो या मनुष्य का गुलाम बनता है।

प्रवृत्ति की सीमा मनुष्य की योग्यता के अनुकूल होनी चाहिए—इसलिए दीनता से मुक्ति पाने की इच्छा रखनेवाले को सबसे पहले अपनी वासनाओ से मुक्ति पानी होगी, शारीरिक विलास की इच्छा और भोगो मे असाधारण प्रवृत्ति को छोडना होगा।

मैं निवृत्ति-मार्ग का पोषक नही हू, किन्तु प्रवृत्ति उसी सीमा तक होनी चाहिए जहा तक मनुष्य की योग्यता है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी सीमा होती है। उसके बाहर जाने का यत्न करना अपने पर अत्याचार करना है। मेरी योग्यता यदि दो सौ रुपये मासिक की है तो मुझे पाच सौ रुपये का लोभ करके अपनी असमर्थता के लिए दीन नही बन जाना चाहिए। अपनी समर्थता का अनुमान मनुष्य स्वय लगा लेता है। सामर्थ्य के अनुकूल पुरस्कार पाने की ही आशा रखकर कार्य करना चाहिए। अधिक की चाह मनुष्य को अशान्त और बीमार बना देती है।

दूसरे की तराजू पर अपने को तोलना दीनता की पराकाष्ठा है—प्राय दूसरो को अपने से अधिक सम्पन्न देखकर ही यह चाह आदमी मे पैदा होती है। औरो के मुकाबले मे अपने को नीचा देखकर मनुष्य का मन विक्षिप्त हो जाता है। दूसरो की तराजू मे अपने को तोलने का विचार जब मनुष्य के मन मे आए तो उसे समझ लेना चाहिए कि उसका मन रोगी है। यह तोल भी कभी सच्चा नही होता। हम दूसरो के सुखो को देख सकते हैं, उनकी तकलीफो का अनुमान नही कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति अपने अच्छे पहलू को ही दूसरो के सामने लाता है। इसका मतलब

हमारी विशेषताए सामाजिक बन्धनो की जज़ीर मे दम तोड देती हैं—साधारणतया हर इसान से यह उम्मीद की जाती है कि वह अपने गुणो से परिचित होगा और यह भी कि वह अपने श्रेष्ठ स्वरूप को ही दुनिया के सामने रखेगा। हरएक को अपने से पूछना चाहिए कि वह अपनी उत्कृष्टताओ का कितना अश अपने कार्यों द्वारा ससार के सामने प्रकट करता है और कितना अश ऐसा है जो भूठे बन्धनो मे बधकर या भूठी शर्म के पर्दों मे छिपकर नष्ट हो जाता है। दूसरो के बन्धनो व छल-छद्म को देखने मे तो हमारी आखें चील से भी तेज़ हो जाती हैं, किन्तु अपनी जज़ीरो को हम देख भी नही पाते। कई बार जब कोई बहुत अभद्र व्यवहार करता है तो हम कह उठते हैं—'नही, नही, वह वास्तव मे ऐसा नही है। असल मे वह बडा नेक आदमी है। उसकी अशिष्टता पर ध्यान न दो उसका दिल बडा साफ है।' कोई कड़वा बोले तो हम कह देते हैं—'यह तो उसकी ज़बान का ही कडवापन है। उसे गाली बकने की आदत पड गई है। दिल से वह बडा मीठा और ईमानदार आदमी है।' कीचड मे ही कमल पैदा होते हैं। पहाडो की चट्टानो मे से ही भरने निकलते हैं। मनुष्य के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति भी इतनी ही सुन्दर होनी चाहिए। यदि ऐसा नही होता तो हमे उनके कारणो की तलाश करनी होगी। स्वभाव से ही महान् मनुष्य यदि पतन के मार्ग पर चल पडे तो हमें उन बाधाओ को दूर करना पडेगा जो उसे अपने रास्ते पर चलने से रोकती हैं। और उन विकृत भावनाओ को दूर करना होगा जो उसे अनुभूति नही होने देती।

7

दैन्य : मनुष्य का सबसे बड़ा : शत्रु

एक बार गिरकर उठने की आशा छोड़ देनेवाले प्राय. दीन हो जाते हैं—इन विकृत भावनाओ मे सबसे साघातिक भावना स्वयं को दीन-हीन मानने की भावना है। दीनता मनुष्य की सबसे बडी शत्रु है। दीनता-ग्रस्त

व्यक्ति कभी चरित्रवान् नही वन सकता। 'मैं नाचीज हू,' ये शब्द कहनेवाले या तो दे पाखण्डी होते हैं जो दूसरो के मुख से 'आप वादशाह हैं' सुनना चाहते है या वे गिरे हुए आदमी होते हैं जो गिरकर उठने की आशा छोड चुकते है। स्वय को अकिंचन मानना विनय नही है। इस व्यक्ति द्वारा हम अपनी कायरता की घोषणा करते हैं। कुछ लोग अपने अक्खडपन को और गर्वित व्यवहारो को छिपाने के लिए भी इन शब्दो का पयोग किया करते है।

भाग्य पर जीनेवाले दीनता को अपनाते हैं—इस तरह स्वय को धिक्कारनेवाले लोग प्राय वही होते हैं जो अपनी अधोगति के लिए भाग्य को दोषी ठहराते हैं। वे अपने उत्कर्ष के लिए सच्चा प्रयत्न करने के स्थान पर दुनिया-भर की शिकायत करने को तैयार रहते हैं। यदि अपने काम मे अयोग्य होने के कारण स्थानच्युत कर दिए जाएगे तो अपनी त्रुटियो पर ध्यान नही देंगे, वल्कि यही कहेंगे—'ज़माना बुरा है। सब मेरी व्यर्थ शिकायत करते हैं। मालिक अपनी आख से नही देखता। कान का कच्चा है।' उने यह कभी नही सूझेगा कि उसने पूरी मेहनत और ईमानदारी से काम किया।

अतिशय स्वाभिमान भी विक्षिप्त होकर दीनता मे बदल जाता है—दीनता-प्रकाशन का यह रोग प्राय ऐसे व्यक्तियो मे ही देखा गया है जो अपने को दुनिया का अनोखा हीरा समझते है। पहले अपनी दृष्टि मे उनका मूल्य इतना ऊचा होता है कि जब कल्पित अभिमान ठुकरा दिया जाता है तो वे मुह के वल नीचे गिरते हैं। पहले उनकी धारणा यह होती है कि दुनिया उनको हर समय सिर-आखो पर उठाए रखे, उनके साथ सबसे जुदा विशेष व्यवहार हो। किन्तु जब वे देखते हैं कि जीवन के सागर मे उन्हे भी ऊची-नीची लहरो की थपेड वरदाश्त करनी पडती है, या उन्हे भी दूसरा की तरह चक्की मे पिसना पडता है तो उनके स्वप्न टूट जाते हैं। उनके कल्पनालोक मे भारी विप्लव आ जाता है। तब वे सभल नही पाते। स्वप्न-ससार मे विचरनेवाला उनका मन-जीवन के क्रियात्मक अनुभव पाने से इकार कर देता है। और तब वे इस आत्मवचना मे ही शरण लेते है कि सारा जमाना उनका दुश्मन है। यह कल्पना उनके मन

पर इतनी छा जाती है कि वे अपने को अकेले और नि सहाय अनुभव करने लगते हैं और अपनी नि सहायता का विज्ञापन करने के लिए दीनता-प्रकाशन का पेशा अख्तियार कर लेते हैं।

मा-बाप बचपन से ही दीनता का बीज बो देते हैं—अन्य मानसिक विकास की तरह दैन्य-भावना का विकास भी मनुष्य के बाल्यकाल की परिस्थितियो मे होता है। जिस बच्चे को मा-बाप का अत्यधिक लाड-प्यार हो, जिसे खुद गिर-गिरकर चलने का अभ्यास न डाला गया हो, बल्कि हर ठोकर पर गोदी की शरण दी गई हो, उसे बडे होकर जब हर कदम पर ठोकरें खानी पड़ें तो वह हारकर दीनता की शरण मे चला जाता है। जो बच्चे आसानी से लाखो का धन पा जाते है, उन्हे ज़िन्दगी का खेल खेलना नही आता। कभी यह खेल खेलना पड जाए तो वे पहली हार मे ही 'मैं और नही खेलता—सब मुझे धोखा देते हैं' कहकर एक कोने में मुह फुलाकर बैठ जाते हैं। ऐसे अति लालित बच्चे जीवन-भर पछताते हैं। उन्हे सबसे लाड-प्यार या विशेष व्यवहार पाने की आशा बनी रहती है। वह न मिलने पर उनकी बेबसी बढ जाती है। वे अपने को हर समय दीन-हीन और असहाय अनुभव करते हैं।

परवशता दीनता की जननी है, श्रमजीवी परवश नहीं होते—दीनता की भावना मनुष्य के मन मे तभी जागती है जब वह किसी की वश्यता स्वीकार करता है। पेट के लिए, पैसे के लिए या किसी स्वार्थ से जब उसे दासता के जूए मे जुतना पडता है तो उसकी आत्मा मर जाती है। परवशता ही दीनता की जननी है। इसीलिए नौकरी करके पेट भरनेवाला आदमी प्राय दीनताग्रस्त होगा। किन्तु यह जरूरी नही कि हर नौकर दीन हो। जो मनुष्य अपनी योग्यता के भरोसे नौकर होगा, उसके स्वाभिमान पर कभी आघात न पहुचेगा। उसकी नौकरी का अर्थ केवल परस्पर सहयोग होगा। वेतनभोगी होने का अर्थ ही दीन होने से नही है। वेतन पानेवाले भीख नही पाते, अपना हक पाते हैं। वे अपने श्रम का मूल्य अपने अधिकार से लेते हैं।

अधिकार से अधिक चाहनेवाला ही दीन हो जाएगा—हा, जो अपने श्रम से अधिक मूल्य चाहेगा, उसे दीन बनना होगा। अपने श्रम का

उचित मूल्य पानेवाले वेतनभोगी प्राय पूजीपति को ही अपना गुलाम बना लेते हैं। जहा कोई अपने अधिकार की मर्यादा मे पारिश्रमिक लेता है, वहा दीनता का प्रश्न ही नही उठता।

सच्चा आदमी कभी दीन नहीं बनेगा—मेरा तो विश्वास है कि ससार की बाहर की कोई भी शक्ति सच्चे आदमी को दीन नही बना सकती। उसकी भीतर की वासना उसे दीन बनाती है। जब उसका लोभ बढ जाता है, तो वह अनैतिक उपायो मे अपनी वासना को तृप्त करने क साधन जुटाना चाहता है। अपनी वासनाओ का गुलाम बनकर ही वह परिस्थितियो या मनुष्य का गुलाम बनता है।

प्रवृत्ति की सीमा मनुष्य की योग्यता के अनुकूल होनी चाहिए—इसलिए दीनता मे मुक्ति पाने की इच्छा रखनेवाले को सबसे पहले अपनी वासनाओ से मुक्ति पानी होगी, शारीरिक विलास की इच्छा और भोगो मे असाधारण प्रवृत्ति को छोडना होगा।

मैं निवृत्ति-मार्ग का पोषक नही हू, किन्तु प्रवृत्ति उसी सीमा तक होनी चाहिए जहा तक मनुष्य की योग्यता है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी सीमा होती है। उसके बाहर जाने का यत्न करना अपने पर अत्याचार करना है। मेरी योग्यता यदि दो सौ रुपये मासिक की है तो मुझे पाच सौ रुपये का लोभ करके अपनी असमर्थता के लिए दीन नहीं बन जाना चाहिए। अपनी समर्थता का अनुमान मनुष्य स्वय लगा लेता है। सामर्थ्य के अनुकूल पुरस्कार पाने की ही आशा रखकर कार्य करना चाहिए। अधिक की चाह मनुष्य को अशान्त और बीमार बना देती है।

दूसरे की तराजू पर अपने को तोलना दीनता की पराकाष्ठा है—प्राय दूसरो को अपने से अधिक सम्पन्न देखकर ही यह चाह आदमी मे पैदा होती है। औरो के मुकाबले मे अपने को नीचा देखकर मनुष्य का मन विक्षिप्त हो जाता है। दूसरो की तराजू मे अपने को तोलने का विचार जब मनुष्य के मन मे आए तो उसे समझ लेना चाहिए कि उसका मन रोगी है। यह तोल भी कभी सच्चा नही होता। हम दूसरो के सुखो को देख सकते हैं, उनकी तकलीफो का अनुमान नही कर सकते। प्रत्येक व्यक्ति अपने अच्छे पहलू को ही दूसरो के सामने लाता है। इसका मतलब

नही कि उसका दूसरा पहलू है ही नही। अपने कष्टो को आदमी अकेला ही झेलता है। एकान्त मे बैठकर ही उनसे सुलझने की कोशिश करता है। उनकी इस कष्ट-कहानी से अपरिचित होने के कारण लोग उसे केवल सुखी ही समझते है। इसलिए उनकी धारणा एकपक्षीय होती है। उस धारणा की रस्सी से आत्म-सम्मान का गला घोटना निरा पागलपन है।

समान स्थिति के लोगो से मिलना स्वास्थ्यकर है—इस विक्षिप्त मनोवृत्ति को वश मे करना चाहिए और यदि कोई कमजोर आदमी वश मे न कर सके तो उसे चाहिए कि वह अपने से अधिक समर्थ व्यक्तियो के सम्पर्क मे आना छोड दे। सच तो यह है कि जो लोग अपने दर्जे से ऊचे दर्जे के लोगो मे लोभवश मेल-जोल बढाते है, प्राय. वही दीनता का रोग पाल लेते हैं। इस मेल-जोल का, जो कि समान शील-व्यसनवाले व्यक्तियो मे नही होता, आधार ही स्वार्थ होता है। इसलिए उसका परिणाम कभी अच्छा नही होगा।

दीन-भावना का उद्भव प्राय मन की आन्तरिक अवस्था मे होता है। इसलिए मैंने इसके रोगी को आत्मनिरीक्षण द्वारा ही इसका उपचार करने की सलाह दी है। किन्तु कई अवस्थाओ मे कुछ ऐसी परिस्थितिया भी कारण बन जाती हैं जो रोगी के वश मे नही होती। परिस्थितियो का ईमानदारी से मुकाबला करते हुए भी वह दीन-भावना से पराजित हो जाता है।

आज की सभ्यता ने मनुष्य को एक जड प्रजा बनाकर बहुत दीन बना दिया है—आज की सभ्यता ने विज्ञान की सहायता से भौतिक वैभवो को इतना विराट् रूप दे दिया है कि मनुष्य की आत्मा उनके भार से दब गई है। मनुष्य भी केवल विश्व की वैभव-वृद्धि मे निर्जीव पुर्जे की तरह सहायक भाग रह गया है। मशीनरी के पुर्जो के समान ही उसका उपयोग किया जाता है। उसकी स्वतन्त्र रचनात्मक वृत्तिया मर चुकी हैं। उसे किसी भी सपूर्ण रचना का परितोष प्राप्त नही होता। वह तो एक निर्जीव विद्युत्-सचालित मशीन की तरह हिलता-डुलता है। बिजली और भाप के दैत्यकाय यन्त्रो की शक्ति के सामने मनुष्य की शक्ति को हेय समझा जाता है। आत्मिक ससार मे अवश्य मनुष्य की मनुष्यता का कुछ

मान शेष है, किन्तु उसका आत्मिक अस्तित्व कागज़ी नाव की तरह क्षणभंगुर है। देव-मन्दिरो या विचारको की पुस्तको मे ही मनुष्य के नैतिक जीवन का कुछ मान होता है। धन की खोज मे मनुष्य ने अपने को मिटा दिया है, आत्म-प्रतिष्ठा का दिवाला निकालकर दीनता स्वीकार कर ली है।

दीनता मनुष्य के मन मे घृणा भर देती है—इस दीन-भावना से मनुष्य को छुटकारा न मिले तो अच्छा यह है कि मनुष्य दीनता के कारण का ही समूलोन्मूलन कर दे। जो घटना या व्यक्ति मनुष्य को दीन बनाता है उसे छोड देना चाहिए। मा-बाप अपने कठोर नियन्त्रण से और पति-पत्नी की परवशता का लाभ उठाकर बच्चो या पत्नी को दीन बना देते हैं। यह दीनता जब आत्मघाती हो जाए तो मनुष्य का पवित्र कर्तव्य है कि वह इस परवशता के जाल को तोड दे। प्रेम के सम्बन्धो मे दीनता की भावना आना ही प्रेम के अभाव की सूचना है। सच्चे अर्थों मे प्रेम करनेवाला व्यक्ति कभी अपने मित्र को दीनता मे नही देखना चाहेगा। यदि कोई मित्र या पिता ऐसा चाहे तो वह सच्चा मित्र अथवा पिता नही। दीनता की मनोवस्था घृणा की जननी है। मैं उसके समक्ष दीन बनने का यत्न करूंगा उसे हृदय से घृणा करूगा। प्रेम समतल के व्यक्तियो मे होता है। स्वय को औसत दर्जे से अधिक बुद्धिमान् मानकर जो व्यक्ति अपने साथी को दबाएगा, वह घृणा का पात्र हो जाएगा।

अदडित अपराधो की स्मृति मनुष्य को दीन बनाती है—दीनता की ग्रन्थियो का प्रदर्शन मन की अनेक अवस्थाओ मे होता है। कई बार उन अवस्थाओ से अपनी दीनता का माप-तोल नही हो पाता। उसके लक्षण मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे नजर आते हैं। हम उन्हे पहचान नही पाते। अपराध की स्मृति मनुष्य को दीन बना देती है। जो अपराध एकान्त मे किया गया हो, जिसका साक्षी केवल अन्त करण हो, उसका दड भगवान् की ओर से यही मिलता है कि मनुष्य दीनता अनुभव करने लगता है। उसकी आत्मा कमजोर हो जाती है। इस तरह के अदण्डित अपराध मनुष्य को ज्यादा सताते हैं।

दिल मे बसी दीनता छिपती नही है। मनुष्य उसे छिपाने के लिए

कितने ही गर्वसूचक आचरण कर ले, उसकी आखें और उसकी मुखमुद्रा हृदय के सच्चे दर्पण वनकर सचाई को दुनिया के सामने रख देते है।

असुन्दर व्यक्ति भी प्रभावशाली व्यक्तित्व रख सकते हैं—कुछ लोग असुन्दर होने के कारण सदा दीनता का भाव लिए रहते है। किसी की नाक ज़रा दवी हुई है, या आखो की भवें वहुत घनी हैं या चेहरे पर चेचक के दाग हैं—इनकी चेतनता सदा उनके मन मे जागृत रहती है। उन्हे जान लेना चाहिए कि भद्दी सूरत वाला आदमी भी शक्तिशाली व्यक्तित्व वना सकता है। थोडा-सा वनाव-सिगार और पोशाक का अनुकूल चुनाव किसी भी मनुष्य को आकर्षक व्यक्तित्व दे देता है। व्यक्तित्व के निर्माण मे शारीरिक गठन की अपेक्षा मानसिक गठन अधिक प्रभाव रखता है। शरीर से सुन्दर किन्तु मूर्ख आदमी की ओर समाज मे कोई आकृष्ट नही होता। स्त्रिया भी ऐसे मूर्खता के सुन्दर पुतले से आकृष्ट नही होती। इसलिए असुन्दर व्यक्ति को असुन्दरता के कारण दीन होने की कोई ज़रूरत नही है।

हम दीनता को छिपाने के लिए सव काम ऊंचे स्वर और भारी प्रदर्शन से करते हैं—दीन-भावना को दूर करने के उपायो पर मैं पीछे प्रकाश डालूगा। पहले यह जान लेना चाहिए कि दवी हुई दीनता अनेक प्रकार मे प्रकट होती है। मुझे एक लडकी ने वतलाया कि उसकी छोटी वहन कई वार वडी वददिमाग हो जाती है। उसे ऐसे ही काम मे मज़ा आता है जिससे मैं परेशान होऊ। मैं जव पढने वैठती हू तो वह रेडियो का स्वर खूव ऊचा कर देती है, और जव मेरे कोई मित्र आए हो तो रसोई मे जाकर कोई न कोई वरतन गिरा देती हैं। इसका क्या इलाज है? मैंने उसे कहा कि 'अपनी छोटी वहिन को उद्दण्ड वनाने मे तुम्हारा हाथ है। तुम वचपन से उसपर कठोर शासन करती आई हो। उसमें दीनता की ग्रथिया वन गई हैं। इस दीनता को छिपाने के लिए वह सव काम ऊचे स्वर से करती है। दिल ही दिल मे तुम से घृणा करती है। अच्छा यही है कि तुम उससे अलहदा हो जाओ। पानी और तेल अलग-अलग घनत्व के कारण घुल-मिलकर नहीं रह सकते। जुदा-जुदा ही रहेंगे। इसी मे तुम्हारा कल्याण है।'

पागल व्यक्ति प्रायः दैन्यग्रसित होते हैं—एक मित्र ने मुझे लिखा कि 'जब मैं बालक था तो मुझे हस्तमैथुन की आदत पड गई थी। यद्यपि एक-दो साल से ज़्यादा मैं इस आदत का शिकार नही रहा, किन्तु मैंने सुना था कि इस आदत का प्रभाव 40 वर्ष की अवस्था के बाद यह होता है कि मनुष्य पागल हो जाता है। मैं अब 43 वर्ष की उम्र मे हू। मेरी याददाश्त सचमुच कमजोर हो गई है। कई बार मेरा दिमाग सन्न-सा पड जाता है। कही मैं पागल तो नही हो जाऊगा ?'

मैंने उसे लिखा कि 'आजकल हस्तमैथुन को हौआ बनाने की प्रथा चल पडी है। इसकी बुराइयो को अतिरजित करके बालको को इससे बचने की हिदायतें दी जाती हैं। मैं नही समझता कि तुम्हारी बचपन की उस आदत का कोई भी प्रभाव इस समय तुम्हारे स्वास्थ्य पर पडेगा। हा, यदि इसे हौआ समझते रहे तो मुमकिन है तुम्हारी विचार-शक्ति निर्बल पड जाए और तुम सचमुच पागल हो जाओ। इसलिए तुम इस भय को मन से निकाल दो।' अपराधी स्वय दीन हो जाता है। अपराध भले ही कल्पित हो, दैन्य केवल कल्पित नही रहता। वह अपना प्रभाव अवश्य दिखलाता है। पागल व्यक्ति प्राय दैन्यग्रसित होता है। उसकी अतिशय वृत्तिया अपनी दीनता को छिपाने के लिए होती हैं।

बचपन की कुचली हुई इच्छाए मन मे दीनता का बीज बो देती है—दैन्यग्रसित व्यक्तियो से मेरा आग्रह है कि वे हिम्मत न हारें। दैन्य मनुष्य का जन्मजात रोग नही है। पिछले जन्म के सस्कारो से मनुष्य मे दीनता का स्वभाव नही बनता। प्राय बचपन की अवस्था मे जब हमारी आत्मा असावधान होती है, माता-पिता की नियन्त्रण-वृत्तिया या जीवन की कुचली हुई इच्छाए हमारे मन मे दीनता का बीज बो देती हैं। यही बीज अकुरित होकर दीनता का विषवृक्ष बन जाता है। इसकी जडें हमारी आत्मा को चारो ओर से जकडना शुरू कर देती हैं। जब तक हम होश सभालते हैं तब तक हम इसके वश मे हो चुके होते हैं। हम इसे अपना सहज स्वभाव मानकर निश्चित हो जाते हैं। कुछ लोग इस दीन-भावना को विनय, मृदुलता आदि नाम देकर झूठी आत्मतुष्टि कर लेते हैं। वे कहने लगते हैं कि 'आखिर जीवन एक समझौते का नाम है।

सिर झुकाकर न चले तो सिर कटने का डर रहता है। आधी से बडे-बडे वटवृक्ष धराशायी हो जाते हैं, किन्तु बेंत की बेल का कुछ नही बिगडता। ज़मीन पर उगी हुई घास हवा के झोको मे लहराकर आधी का स्वागत करती है।' ऐसे आदमी अवसरवादिता को ही जीवन का क्रियात्मक मार्ग मान लेते है। उनके मत मे आदर्शों के लिए जीना झूठा अहकार है।

मौत मागने से नहीं मिलती किन्तु जीते जी मरना मिल जाता है—'प्रकृति को अपना कार्य करने की छूट देनी चाहिए। मनुष्य की हस्ती ही क्या है! जो सास आराम से लिया जाए, ले लो, न जाने कब मृत्यु का द्वार खुल जाए?' ऐसे भीरु व्यक्तियो के सम्बन्ध मे मेरा यह विश्वास है कि वे केवल सास लेते हैं, जीते नही हैं, उनकी नसो मे गरम खून नहीं, मौत का ठडा पानी चलता है, उनके मन मे श्मशान की शाति रहती है। वे जीते हैं किन्तु उनकी आत्मा मर चुकी होती है। दैन्य को स्वीकार करनेवाला पुरुष जीते जी मर जाता है। वह तभी तक जीता है जब तक उसमे दैन्य के प्रति विद्रोह रहता है, जब तक वह यह सोचता है कि 'इस बेइज्ज़ती की ज़िन्दगी से तो मौत अच्छी।' मनुष्य निर्धन हो या धनी, शिक्षित हो या अशिक्षित, बालक हो या तरुण, तभी तक जीना चाहता है जब तक सम्मान के साथ जीना मिले। सम्मान पर ठेस लगने से पहले वह ईश्वर से मौत की भीख माग लेता है। किन्तु मौत मागने से नही मिलती। मौत मिले न मिले, जीते-जी मर जाना तो सबके हाथ की बात है। दैन्य स्वीकार करनेवाला यही करता है, वह जीते-जी मर जाता है। उसके जीवन के आनन्द मर जाते हैं, उसके जीवन के आदर्श मर जाते हैं, जीवन की सब अनुभूतिया मर जाती हैं। एक बार मरना कष्टप्रद नही होता, प्रतिक्षण मरने की यह प्रक्रिया बडी भयानक हो जाती है। शरीर के बडे-बडे वैद्यो ने शारीरिक मृत्यु पर विजय पाने के लिए बडी-बडी खोजें की हैं। उन्हे मृत्यु पर सफलता तो नही मिली, किन्तु कुछ रोगो पर विजय पाने मे सफलता मिल गई है। आश्चर्य यह है कि मानसिक रोगो पर विजय पाने मे मनुष्य का ज्ञान अभी इतना पीछे है! मानसिक विकार अभी तक असाध्य ही माने जाते हैं। दैन्य की भावना का ही उदाहरण लीजिए। जो एक बार इस विकार से ग्रस्त हुआ वह जन्म-भर इसे पालता-पोसता

रहेगा। उसे दूर करने की कोई औषध उनके पास नही है। उसकी अवस्था उस दात-दर्द के रोगी की-सी होती है जो दर्द से कराहता रहता है, किन्तु डाक्टर के पास जाकर उस बीमार दात को उखडवाने की हिम्मत नही करता। कीडा खाए दात का इलाज यही है कि उसे बेदर्दी से उखडवा दिया जाए। इसी तरह दीनताग्रस्त मनोभावना का इलाज यही है कि दैन्य को वेदर्दी से निकाल दिया जाए। इस चीराफाडी से उतना दर्द भी नही होगा जितना दात मे उखाडने से होता है। मानसिक विकारो की चीराफाडी कष्टप्रद नही होती। उनका इलाज शुरू करते ही आनन्द की प्रतीति शुरू हो जाती है।

हम अदीन हैं—यह विश्वास ही दैन्य को परास्त करता है—मानसिक रोगो का कोई सर्वसम्मत इलाज नही है। मन को स्वस्थ बनाने के लिए कुछ नैतिक सिद्धातो का पालन ही सव मानसिक रोगो का उपचार होता है। सभी मानसिक रोगो का आधार प्राय काल्पनिक होता है। वे रोग मन को तभी तक सताते हैं, जब तक हम उन्हे अपने मन मे स्थान देते हैं। हम दीन है, यह विश्वास ही हमे दीन बनाता है। इसलिए हम दीन नही हैं, यह विश्वास हमे अदीन वनाएगा। किसी भी स्वाभाविक प्रवृति के अतिशय विकार को हम मन मे उसकी विरोधी प्रवृत्ति को जागरित करके ही दूर कर सकते हैं।

आत्मसम्मान की भावना ही दीन-भावना की औषध है—भय की सहोदर भावनाओ का इलाज करने के लिए हमे आत्मगौरव की प्रसुप्त भावना को जागरित करना होगा। भय के कारण जो दैन्य भाव उठते हैं उन्हे आत्मसम्मान की भावनाओ से परास्त करना चाहिए। अर्जुन के दैन्य को दूर करने के लिए भगवान कृष्ण ने उसके मन मे इसी आत्मसम्मान के भाव को जगाया था। उन्होंने कहा था कि यदि तू इस समय युद्ध से मुख मोडेगा तो लोग तुझे डरपोक कहेगे। तेरी कीर्ति पर कलक लगेगा। यह अकीर्ति मृत्यु से भी अधिक कष्टप्रद होती है। इसलिए अपनी कीर्ति की रक्षा के लिए भी युद्ध करना तेरा कर्तव्य है।[1] महाभारत मे व्यास

1 अकीर्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते॥—गीता

मुनि ने कहा है कि आत्मकीर्ति का भाव पुरुष को माता की तरह जीवन प्रदान करता है। अकीर्ति मनुष्य को जीते-जी मार देती है।[1] 'मृच्छकटिक' मे चारुदत्त ने यह बात जोरदार शब्दो मे कही है। वह कहता है : 'मैं मृत्यु से नही डरता, केवल अपयश से डरता हू। यशस्विनी मृत्यु मुझे पुत्र-जन्म के आनन्द के समान प्रिय होगी।'[2]

8

मानसिक रोगों पर विजय पाने के उपाय

मृत्यु से बचने का यत्न बेकार है, मृत्युञ्जय बनो—मेरा विश्वास है कि हम प्रत्येक आवेश को उसके विरोधी आवेश से ही जीत सकते हैं। भय को निर्भयता से, दीनता को अदीनता से, क्रोध को अक्रोध से ही जीता जा सकता है। वेदो मे 'अदीना स्याम शरद. शतम्' हम सौ वर्ष अदीन होकर जिए—प्रार्थना है। दीनता के साथ जीना नही है, ऐसे जीने से मरना अच्छा है। जीने का अर्थ ही अदीन होकर जीना है। अदीन आत्मा से ही हम यह आशा कर सकते हैं कि वह हमारी शक्तियो की बागडोर सभालेगी जिससे हमारे चरित्र का निर्माण होगा। कायर आत्मा के हाथ मे जिस जीवन की शासन-डोर होगी वह जीवन कभी सफलता के मार्ग पर नही चलेगा। जिस रथ का सारथी ही कायर होगा वह विजय के मार्ग पर अग्रसर कैसे हो सकता है? ईश्वर से जब हम यह मागते हैं कि हमारे

---

1 कीर्त्तिर्हि पुरुषं लोके सजीवयति मातृवत्।
अकीर्त्तिर्जीवितं हन्ति जीवतोऽपि शरीरिण ॥—महाभारत

2 न भीतो मरणादस्मि केवल दूषितं यश ।
विशुद्धस्य हि मे मृत्यु पुत्रजन्मसम. किल ॥—मृच्छकटिक

रथ को सबसे आगे बढा दो[1], हमारी भावनाए समुद्र की धाराओ के समान सारी भूमि को व्याप्त कर लें[2], और हम जीवन के दुर्गम पथ को आसानी से पार कर लें[3], तब हम अच्छी तरह जानते हैं कि दैन्यग्रस्त आत्मा से ऐसी आशा नही की जा सकती। मृत्यु को जीतनेवाली आत्मा दीन कैसे हो सकती है ? हम मृत्यु से बचने की प्रार्थना नही करते बल्कि मृत्यु को जीतते हैं, मृत्युजय बनने की धारणा बनाते हैं, मृत्यु के पैर को ढकेलते हुए जीवन-पथ पर चलने का सकल्प करते हैं।[4]

प्रवृत्तियो का आदर्श सन्तुलन करना हमारे हाथ मे है—सच तो यह है कि जब हमारी आत्मसम्मान की स्वाभाविक वृत्ति मद्धिम पड जाती है तभी भय की प्रवृत्तिया प्रबल होकर हमारे दैन्य को उकसा देती हैं। प्रवृत्तियो का यह द्वन्द्व हमारे मन मे प्रतिक्षण चलता रहता है। हमारी आत्मा के सामने इन प्रवृत्तियो की कचहरी हर समय तपी रहती है। वादी-प्रतिवादी हाजिर होते रहते हैं और हमारा न्यायाधीश प्रतिक्षण फैसला देता रहता है। मामूली अदालतो मे न्यायाधीश को व्यवस्थापको द्वारा निर्मित विधान के अनुसार फैसला करना पडता है किन्तु हमारा न्यायाधीश व्यवस्थापक भी है। व्यवस्था बनाना भी उसी का काम है। मनुष्य का अन्त करण स्वय अपना लक्ष्य निर्धारित करके व्यवस्था बनाता है और उस व्यवस्था को सुचारू रुप से कार्यान्वित करने के लिए प्रवृत्तियो के द्वन्द्व मे से अनुकूल प्रवृत्तियो को काम मे लाता रहता है। यदि सब काम व्यवस्थानुसार चले तो जीवन का सन्तुलन आदर्श रहता है, किन्तु कठिनाई यही है कि मनुष्य का अत करण भी अनेक दुर्बलताओ से प्रभावित हो जाता है।

एक दुर्बलता—दीन—भावना—की चर्चा मैंने की है। ऐसी अनेक

---

1 प्रथम नो रथ कृधि—ऋग्वेद

2 एषस्य धारया सुतोऽव्या वारेभि पवते मदिन्तम ।
क्रीडन्नूर्मिरपामिव। —सामवेद

3 तरन्त स्याम दुर्गहा—ऋग्वेद

4 मृत्यो पद योपयन्ती यदैत—अथर्ववेद

भावनाए और भी है जो हमारी आत्मा को आदर्श नेतृत्व के गुणो मे वंचित करती हैं।

मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही आत्मप्रकाशन करता है—अत्यधिक अहभाव भी आत्मा को निर्बल बनाता है। यह भी दीन-भावना की ही एक प्रतिक्रिया है। अहकार की आड मे हम अपनी दीनता को छिपाने का प्रयत्न करते है। ठीक उसी तरह जिस तरह मूर्ख आदमी वाचाल भापा के पर्दों मे अपनी मूर्खता को ढापने की कोशिश करता है।

अहकार, आत्माभिमान, आत्मप्रकाशन या अहभावना मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तिया है। इनके विना मनुष्य का जीवन पूर्ण नही हो सकता, वह कर्म मे प्रवृत्त नही हो सकता। आत्माभिमान मनुष्य की सवसे बडी प्रेरणा हैं। आत्मप्रकाशन की प्रवृत्ति, या स्वय को रचनात्मक रूपो मे प्रकाशित करने की इच्छा ही मनुष्य को कर्मो मे प्रवृत्त करती है। मनुष्य स्वभाव से रचनाप्रिय है। प्रकृति से तो वह कलाकार है और अपनी रचना को देखकर आनन्दित होना व अभिमान अनुभव करना भी उसका स्वभाव है। 'यह मेरी कृति है' कहकर मनुष्य अभिमान अनुभव करता है। अभिमान मनुष्य-जीवन की सुखी बनाने मे सहायक होता है। अपने कार्यों मे ही मनुष्य अपने को प्रकट करता है और अपने कर्मों द्वारा ही वह अपने स्वरूप को जानता है। आत्मप्रकाशन का यह आदर्श रूप है।

विश्वकर्मा हमारे हृदय मे बैठकर हमे कर्मों मे प्रवृत्त करता है—ईश्वर के कर्तृत्व का अश मनुष्य मे भी है। मनुष्य के हृदय मे भी वही विश्वकर्मा वैठा है[1]। वही एक रूप से अनेक रूपो की सृष्टि कर रहा है। जो मनुष्य अपने हृदय मे उसको वैठा जानकर अपने कर्मों मे उसी की प्रेरणा को अनुभव करते हैं और जानते हैं कि सच्चा करतार वही ईश्वर है, उन्ही को शाश्वत सुख प्राप्त होता है। और जो मूर्ख यह समझने लगते हैं कि प्रकृति के गुणो से स्वय सिद्ध होने वाले सब कार्यो का कर्ता मैं हू, वे मिथ्याचारी होते है। उनका अभिमान मिथ्या होता है, उनका

---

1. एप देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनाना हृदये सन्निविष्ट ।

आनन्द मिथ्या होता है[1], उनकी प्रेरणा मिथ्या होती है, उनका ज्ञान, उनका बल और उनकी सब क्रियाए मिथ्या होती हैं।

चेष्टाहीन भावनाए विकृत हो जाती हैं; निश्चेष्ट अहंभाव ही दुराग्रह का कारण है—आत्मप्रकाशन और रचनात्मक भावनाओ को प्रकट होने का जब ठीक माध्यम नहीं मिलता तो वे पथभ्रष्ट हो जाती हैं, दब जाती है, विकृत और विक्षिप्त हो जाती है। यही विकार स्वभाव मे मिथ्याभिमान, चिडचिडापन, दुराग्रह पैदा कर देते हैं। मनुष्य मे निश्चेष्टा आ जाती है। निश्चेष्ट अभिमान और निश्चेष्ट दुराग्रह मनुष्य की प्रगति मे उसी तरह बाधक हो जाते है जिस तरह निश्चेष्ट शोक। ये निश्चेष्ट भावनाए मनुष्य की सबसे बडी शत्रु हैं।[2] निश्चेष्ट अभिमान का यह अर्थ है कि मनुष्य केवल अभिमान करता है, चेष्टा नही करता। जिन भावनाओ के साथ प्रयत्न नही रहते वे भावनाए मनुष्य की शत्रु हैं। प्रत्येक भावना की तृप्ति के लिए प्रयत्न का होना आवश्यक है, चेष्टाहीन भावनाए विकृत हो जाती हैं। अत्यधिक नियन्त्रण से या निरन्तर असफलता से सामना करते-करते मनुष्य की रचनावृत्ति जब कुण्ठित हो जाती है तो वह मिथ्याभिमान के पर्दे मे छिपकर बैठ जाती है।

उपयोगी काम न करके भी काम मे प्रवृत्त रहना जीवन का झूठा नाटक खेलना है—एक आदमी रोज चौराहे पर आने-जाने वाली मोटरो को हाथ देता था। वह सिपाही नही था। कही से सिपाही की फटी वर्दी उसे मिल गई थी। उसे पहनकर वह चौराहे के बीच खडा हो जाता और सिपाही बनने का नाटक करता था। उसकी बडी इच्छा थी कि वह सिपाही बनता। वह इच्छा किसी कारण से पूरी न हो सकी। इसी से वह पागल हो गया। पागल होने के बाद भी वह इस इच्छा से छुटकारा नही पा सका। अब वह अपना सिपाही का नाटक करके तृप्त हो लेता है।

वह अकेला ही ऐसा पागल नही है। अपने आसपास हम नज़र

---

1 एक रूप बहुधा य करोति तमात्मस्थ येऽनुपश्यन्ति धीरा, तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम्।

2 हीनचेष्टस्य य शोक स हि शत्रुर्धनञ्जय।

दौडाए तो हमे सैंकडो समझदार सफेदपोश पागल इसी तरह नाटक करते दिखाई देंगे। उनके काम का उद्देश्य केवल अपने झूठे अभिमान को सतुष्ट करना होता है, कोई उपयोगी काम करना नही।

सग्रह अपने मिथ्याभिमान की तृप्ति के लिए होता है—आज लोग अपनी सुख-सुविधा के लिए धनोपार्जन नही करते वल्कि समाज मे अपने को धनी-मानी वतलाने के लिए करते हैं। समाचारपत्रो और पत्रिकाओ का सचालन, सपादन जनमात्र की हितभावना से नही किया जाता, अपितु सार्वजनिक अभिमान की प्रतिष्ठा के लिए किया जाता है। आज हमारे सभी सामाजिक काम इस मिथ्याभिमान की प्रेरणा से हो रहे है। चाहिए तो यह था कि हम कुछ उपयोगी काम करके अभिमान करते, किन्तु उपयोगी काम न करके केवल अधिक से अधिक धन-सग्रह करके ही हम अपने अभिमान को तृप्त कर लेते हैं। रचनात्मक प्रवृत्ति का स्थान सग्रह-प्रवृत्ति ने ले लिया है। सग्रह वुरा काम नही है। किन्तु सग्रह तभी अच्छा है यदि वह नये उत्पादन मे सहायक हो। जहा वह मनुष्य का मूल्याकन करने का साधन वन जाए वहा सग्रह विनाशकारी वन जाता है। आजकल ससार सग्रह को ही जीवन की सफलता मान वैठा है। प्रचुरता ही मनुष्य के अभिमान की वस्तु रह गई है। यह अभिमान आत्मा को रोगी वना देता है।

प्रशंसा की भूख हमें कर्तव्यच्युत करती है—दूसरो की प्रशसा से जिसकी अभिमान-भावना तृप्त होगी वह कभी सफल नही हो सकता। अभिमानी आदमी प्राय दूसरो की स्तुति से तृप्त और आलोचना से विक्षिप्त होते हैं। प्रशसा की यह भूख आजकल वडी विस्तृत हो गई है। अपनी स्तुति सुनकर फूलने वाला आदमी उपयोगी कार्यों की अपेक्षा वही काम करेगा जो उसे दूसरो की प्रशसा का पात्र वना सके। प्रशसा की यह भूख ही है जो हमारी गृह-देवियो को रगमच पर लाती है। ऐसी देवियो के लिए घर के काम-काज नीरस हो जाते हैं। घर के कार्यों मे उनकी दिलचस्पी नही रहती। वहा केवल पति की प्रशसा ही मिलती है। वाहर के काम मे दुनिया की वाहवाही मिलती है। इसलिए कई घर की माताए भी चेहरे को रगकर और गालो पर लीपापोती करके रगमच पर जाती हैं। ऐसी

माता कभी बच्चो का पालन-पोषण नही कर सकती। उसका गहन 'आत्म-प्रेम' उसे अपने पुत्र और पुत्रियो के साथ स्वाभाविक व्यवहार नही करने देता।

अहभावी मां-बाप बच्चो से घृणा करने लगते हैं—मैंने अभिमान को 'आत्मप्रेम' कहा है। आत्मप्रेम, अहभाव, आत्मरति, स्वार्थ ये सब शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं। यह आत्मप्रेम मनुष्य को अन्तर्मुखी बना देता है, उसका ध्यान अपनी ही तृप्ति पर केन्द्रित हो जाता है। वह केवल अपने लिए जीता है और अपने लिए ही सब काम करता है। प्रेम, दया, सहानुभूति शब्द उसके अमरकोष मे नही रहते। ऐसा अहभावी व्यक्ति दूसरो से तो क्या, अपनी सन्तान से भी प्रेम नही कर सकता, सन्तान की हित-चिन्ता नही कर सकता, उसके लिए त्याग व तप करने की तो बात ही अलग है। कई बार ऐसे 'अहभावी' माता-पिता अपने बच्चो से प्रेम करने के स्थान पर उनसे घृणा करने लगते है। बच्चो की त्रुटिया उन्हे समाज मे लज्जित करने लगती हैं। एक बच्ची देखने मे उतनी सुन्दर नही थी जितनी उसकी मा। मा को लडकी के साथ चलने मे शर्म मालूम होती थी। ऐसी लडकी के मन मे माता के लिए जो भावना जागृत होगी उसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

बच्चे के दिल मे माता के प्रति विद्रोह—एक लडका बहुत गन्दा रहता था। उसकी अस्वच्छ प्रकृति का मूलनिदान जानने पर मालूम पडा कि उसकी माता ने 'लोग क्या कहेगे' इस बात को बहुत महत्त्व दे रखा था। अपने घर की कुर्सियो पर वह बच्चे को नही बैठने देती थी—इस डर से कि कही कुर्सियो का गिलाफ मैला न हो जाए। वह बच्चा जब मैल-कुचैला होता तो उसे अपने पास नही बुलाती थी। बल्कि एक दिन उस बच्चे ने एक पडोसिन के सामने माता को यह भी कहते सुन लिया था कि 'यह बच्चा तो किसी चूडी के घर पैदा होता तो अच्छा था, जाने मेरी कोख से ही क्यो पैदा हुआ!' तभी से उस बच्चे मे प्रतिहिंसा के भाव जागृत हो गए। उसने माता की आवश्यकता से अधिक स्वच्छता की भावना के प्रति विद्रोह कर दिया। वह जान-बूझकर गन्दा रहने लगा। मा जब उसकी गन्दगी से चिढती तो उसे बडा आनन्द आता था। मा के मिथ्या आत्मा-

भिमान ने बच्चे का जीवन बिगाड दिया। मा का जीवन तो नष्ट हुआ ही था, बच्चे का भी हो गया।

9

सामाजिक चेतनता व्यक्तित्व को विजयी बनाती है

अहंभाव ही ईर्ष्या के बीज बोता है—यही मिथ्या 'अहभाव' है जो हमारे मन मे ईर्ष्या के विषबीज बोता है। हमारा मन सदा अपने को दूसरो की नज़रो मे तोलता रहता है। किसी सुन्दर चेहरे को देखते ही हमारा ध्यान अपने चेहरे की खराबियो पर गड जाता है और हम अपने पर लज्जित होना शुरू कर देते हैं। किसीकी सुन्दर पोशाक देखकर तुरन्त हमे अपनी बेढब पोशाक पर ग्लानि होने लगती है। हम सबकी उन्नति मे अपनी हेठी और सबकी हसी मे अपना रोना अनुभव करने लगते है। हम अनायास दूसरो के सुख से ईर्ष्या करने लगते हैं। सभव है, उनके दिखाई देनेवाले सुखो से उनकी दु ख-भरी कथाए बहुत लम्बी हो, किन्तु हमे यह जाचने-परखने का अवकाश ही कहा! हमारा 'अहभाव' बडा अधीर है। वह बडा नाज़ुक और चचल है। उसकी निरन्तर पूजा करके हमने उसे असहिष्णु बना दिया है।

अपने को भूलकर ही हम दुनिया के सेवक बन सकते हैं—'अह' की पूजा करते-करते हम अपने उन कर्तव्यो को बिल्कुल भूल जाते हैं जो हमारे पडोसियो, अपने समाज और देश के प्रति होते हैं। हम यह भूल जाते है कि हमारा जीवन अनेक शक्तियो का ऋणी है, और हम दूसरो के साथ समन्वय किए बिना एक क्षण भी जीवित नही रह सकते। हम यह स्मरण नहीं रखते कि जो अग्नि मे है, जल मे है, सम्पूर्ण विश्व मे है, वही हमारे अन्दर भी है। हम भी उसी विराट् प्राण के अश हैं। हम उसीके अमृत

पुत्र हैं। दिव्य लोको मे जो रहता है वही हमारे शरीर मे रहता है।[1] बल्कि जो सर्वव्यापक है वही हम हैं। इस विराट् विश्व की आत्मा से हमारी आत्मा भिन्न नही है। सूफी ने ठीक कहा था—

ग़ायब जो हो ख़ुदा से आलम है उसको हूका,
अनातीयत है जिसमे—मौक़ा नहीं है तू का।

जो मनुष्य सब प्राणियो से आत्मभावना रखता है वही उत्तम है[2]—वही ससार के साथ चल सकता है। अपनी सकीर्ण भावनाओ मे रमने-वाला आदमी सफल नही होगा। इसलिए हमे आत्मप्रिय न होकर आत्म-विस्मृत और परप्रिय होना उचित है। अपने को भूलकर ही हम परप्रिय हो सकते है। तभी हम दूसरो की बातो मे दिलचस्पी लेंगे, दूसरो की बातें सुनेंगे। अपनी चिन्ताओ से ही जिसे अवकाश नही, वह ससार का सौन्दर्य क्या देखेगा ? उषाकाल की अरुणाई, रवि की सुनहरी आभा, चिडियो की चहक, कोयल की कूक, चन्द्रमा की शीतल किरणें, बादलो की सवारी, सावन की लहराती हवा उसके लिए कोई सन्देश नही लाएगी। वर्षा से धुले आकाश मे जब चाद तारो से खेलता होगा, तो वह अपने दामन में मुह छिपाकर अपनी चिन्ता मे व्यस्त होगा।

अहवादी व्यक्ति की यही पुकार रहती है . 'मैं दुनिया मे अकेला हू'—ऐसे स्वार्थपरायण जीवन का कोई उद्देश्य नही हो सकता। लक्ष्य अपने से बाहर दूर की ही वस्तु का हो सकता है। स्वार्थी पुरुष अपने से वाहर कुछ नहीं देखता। उसे सुख के अतिरिक्त कुछ दीखता ही नही। अपने को वह दुनिया से इतना अलग ही नही कर लेता—सबको अपना शत्रु भी समझने लगता है। अपने स्वार्थ की गहराई मे वह दुनिया-भर के सशय और भय भर लेता है। वह अपना मन किसीके सामने नही खोलता।

---

1 यो देवोऽग्नौ, योऽप्सु, यो विश्वम्भुवनमाविवेश ।
यो ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नम ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये दिव्या धामानि तस्थु ।

2 सर्वभूतेषु य पश्येद् भगवद्भावमात्मन ।
भूतानि भवयत्यात्मन्यसौ भगवतोत्तम ॥

उसके धुए से उसकी आत्मा भरी रहती है। वह किसीके हृदय मे प्रेम के वीज नही बोता और न ही कृतज्ञता-भरे मन मे किसी के प्रेम का उत्तर देता है। प्रेम का उत्तर वह सदा द्वेष से देता है। और इस कारण जब दूसरे लोग उससे मेल-जोल रखना वन्द कर देते हैं तो वह चिल्ला-चिल्लाकर कहता है, 'मैं दुनिया मे अकेला हू।' जिनका मन केवल अपनी परिधि मे ही चक्कर काटा करता है, वे हर समय अपनी नब्ज पर हाथ रखकर अपने स्वास्थ्य की चिन्ता किया करते है। वे अपने ही दिल की धडकन सुना करते और पेट की मास-पेशियो पर ध्यानावस्थित रहते हैं। यह भी एक तरह का मानसिक रोग है।

दूसरो के सुख-दु.ख के समभागी बनिए—सामाजिक चेतनता के जागृत होने की पहली शर्त यह है कि आप यह वात अच्छी तरह समझ लें कि आपके जीवन का प्रयोजन केवल अपने मनोरथो की सिद्धि करना नही है। आप अनिवार्य रूप से सामाजिक प्राणी हैं। दूसरो के सुख-दु ख मे भाग लेते हुए ही आपको जीना है। एक वार यह चेतनता जागृत होने के बाद आपका दृष्टिकोण सर्वथा वदल जाएगा। आपकी दिलचस्पी सार्वजनिक हित के कामो मे होगी। आप केवल मनोरजक उपन्यासो मे समय नष्ट न करके सामाजिक समस्याओ को सुलझाने के विषय की पुस्तकें पढना शुरू कर देंगे। आपको यह चिन्ता होने लगेगी कि अशिक्षितो को शिक्षित किस तरह वनाया जाए, रोगियो की चिकित्सा का प्रवन्ध कैसे किया जाए और लोगो का दु ख-दारिद्र्य दूर करने का सवसे अच्छा उपाय कौन-सा है?

सवेदना के आसुओं से मन का पाप घुल जाता है और आत्मा निर्मल होती है—इस चिन्ता के जागृत होते ही आपकी इच्छा होगी कि आप इन समस्याओ का स्वय अध्ययन करें। अध्ययन विना निरीक्षण के नही होता है। निरीक्षण के लिए आपको गरीवो, अनपढ लोगो और वीमारो मे जाना पडेगा। उनसे मिलकर आप उन्हे सान्त्वना देंगे। उनके दु ख की वात सुनकर आसू वहाएगे। इन आसुओ से आपकी आत्मा की मलिनता धुल जाएगी। आपकी आखो की दृष्टि विमल हो जाएगी।

अपने मे गरीव लोगो मे जाकर आपको अनुभव होगा कि ईश्वर के वरद पुत्रो को अधिक उदार होने की आवश्यकता है। लाखो का दुर्भाग्य

थोडे-से लोगो की उदारता से सौभाग्य मे बदल सकता है। आप देखेंगे कि किस तरह कुछ लोग चुपचाप जीवन की असह्य यन्त्रणाओ को बर्दाश्त कर रहे हैं, बलिदान केवल ऊचे ध्येय के लिए बडी-बडी विज्ञप्तियो के साथ नही किया जाता, छोटी-छोटी बातो मे भी मौन रहकर कितना समर्पण किया जा सकता है ! उस समय आपको यह सोचकर पश्चात्ताप होगा कि जब आप बडी आसानी से किसी के मन का भार हल्का कर सकते थे, तन पर वस्त्र देने की सुविधा कर सकते थे, किसी को अन्न के एक-एक दाने के लिए तरसते हुए प्राण छोडने से बचा सकते थे, उस समय आप केवल अपने आचल मे मुह छिपाकर क्यो बैठे रहे ? वह समय आपने अपने निरर्थक मनोरजन मे बिताया, अपने लाखो के कोष मे थोडी-सी और वृद्धि करने का सन्तोष पाने मे खर्च कर दिया।

सच्चरित्र होने का प्रयोजन चरित्र निर्माण नहीं, बल्कि सामाजिक कल्याण है—चरित्र ऐसा वृक्ष है जिसकी जडें अवश्य मनुष्य के अपने व्यक्तित्व मे गडी होती हैं किन्तु जिसका विकास समाज के खुले आकाश मे होता है, जिसकी शाखाए दुनिया की खुली हवा मे फैलती हैं और जिसके फल दुनिया के दूसरे लोग खाते हैं। चरित्र वह जलधारा है जो व्यक्तित्व के गर्भ से निकलकर पृथ्वी पर फैली हुई क्यारियो को सीचती हुई विश्व के विशाल सागर मे लुप्त हो जाती है। चरित्र की स्थिति मनुष्य के व्यक्तित्व मे ही है किन्तु उसका लक्ष्य सामाजिक कल्याण ही है।

मेरा विश्वास है कि पर्वत की एकान्त गुफा मे बैठकर कोई व्यक्ति चरित्र-निर्माण नही कर सकता। दुनिया से दूर आध्यात्मिक आश्रमो के दुर्ग मे भी चरित्र की शिक्षा नही दी जा सकती। सामाजिक चेतनाशून्य आत्मा हमारी प्रवृत्तियो का नेतृत्व कभी नही कर सकती। यह अहभाव चरित्र का शत्रु है। यह स्वार्थपरता मनुष्य के मन और शरीर दोनो को अस्वस्थ बना देती है।

पर-सेवा मनुष्य के किसी भी स्थिर आदर्श की प्रतीक है—दूसरो को सहायता देनेवाले को एक दिव्य सतोष और सुख मिलता है। उसके शरीर मे स्फूर्ति आ जाती है, वाणी मे निश्चयात्मक भावना और स्पष्टता समा जाती है। उसकी चेष्टाए एक स्थिर आदर्श का सकेत करती हैं, उसकी

हसी मे भी गम्भीरता की अस्पष्ट-सी झलक दिखाई देती है।

उसके चेहरे पर ससार के सुख-दु ख, छाया-प्रकाशमय जीवन का सच्चा चित्र खिच जाता है, जीवन का सम्पूर्ण सौंदर्य उसके दिल पर आईने की तरह चित्रित हो जाता है।

नि स्वार्थ, निरभिमान व्यक्ति सबका प्रिय हो जाता है।[1] उसे सब लोग अपने सुख का भागी बनाना चाहते हैं। उसकी सम्मति पूछते है और सम्मति का सम्मान करते हैं। जब वह घर से बाहर जाता है तो सब लोग उसे बुलाते हैं, उसका स्वागत करते हैं।

स्वार्थी से सब डरते हैं। वह कभी रास्ते मे पड जाए तो बचकर निकल जाते हैं। उसके बुलाने पर भी लोग नही जाते। उसकी सम्मति कोई नही पूछता। वह एक बहिष्कृत व्यक्ति के समान अकेला जीता है।

आप इनमे से कौन-सा व्यक्ति बनना चाहते हैं ?

सौभाग्य से ऐसे मनुष्यो की कमी नही जो जीवन के मार्ग मे सहायता का हाथ बढाते हुए आगे बढना चाहते हैं और जो उपयोगी कार्य करके अपने जीवन को सुखी-समृद्ध बनाना चाहते हैं, किंतु बहुत लोग यह समझते है कि परहित-चिंतन केवल बडे कार्यों मे होता है। उनको यह भ्रम होता है कि सामाजिक चेतना का अभिप्राय केवल सार्वजनिक सस्थाओ मे कार्य करने या सार्वजनिक सभाओ मे व्याख्यान देने से है। सामाजिक चेतना मे प्रेरित कामो मे बडे-छोटे का भेद नही होता। अल्प-अधिक की तुलना भी नही होती।

छोटे प्रारभ ही महान फल को जन्म देते हैं, कर्म का नाश नहीं होता—एक बार मेरे एक मित्र ने महात्मा गाधी के पास पत्र लिखते हुए यह सशय प्रकट किया था कि आप सबको सूत कातने का उपदेश देते हैं। मैं मजदूर आदमी हू। दिन-रात पसीना बहाकर पेट पालता हू। मेरे पास इतना थोडा समय बचता है कठिनाई से 2-4 गज ही सूत कात सकूगा। मेरा 2-4 गज सूत किस तरह भारत की स्वाधीनता-विजय मे उपयोगी हो सकता है, यह मुझे समझ नही आता। इतने थोडे काम की

1. मान हित्वा प्रियो भवति।—महाभारत

व्यर्थता जानकर मैंने सूत कातने का इरादा छोड दिया है। क्या मैंने बुरा किया ?

महात्माजी ने इस पत्र के उत्तर मे गीता का एक श्लोक लिखकर भेजा था, जिसका अर्थ यह था कि इस जीवन मे किसी भी कर्म का नाश नही होता, किसी भी प्रयत्न की दुर्गति नही होती। कर्तव्य कार्य का थोडा अनुष्ठान भी मनुष्य को अधर्म या अकर्तव्य के महान् भय से दूर कर देता है।[1]

छोटे कामो की प्रशसा मे एक अग्रेजी कवि ने बहुत अच्छी पक्तिया लिखी है, जिनका आशय यह है—

छोटे प्रारम्भ मे ही महानता छिपी होती है। छोटे काम का आधार यदि विश्वासपूर्ण हृदय और अनथक बुद्धिपूर्वक परिश्रम है, तो भविष्य अवश्य उज्ज्वल होगा।[2]

अग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ की इस पक्ति मे, कि 'मनोयोग से किया छोटे से छोटा काम भी सच्ची सेवा का स्वरूप है'[3], भी एक बडा सत्य निहित है।

मनुष्य का बडप्पन छोटे कामों से ही जाना जाता है—हमे छोटे-छोटे कामों मे ही स्वार्थ-भावना को छोडकर परार्थ की भावना बनानी चाहिए। अच्छे काम का प्रारम्भ अपने निकट से ही किया जा सकता है, दूर जाने की जरूरत नही, न ही पात्र-अपात्र को परखने की जरूरत है। सच्चा दानी वही है जो योग्य को नही बल्कि जरूरतमद को दे। जिसका मन उदारता, सेवा, दया आदि गुणो से भरपूर होगा, वह बादल की तरह छोटे-बडे ताल,

---

1 नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।।—गीता

2 O, small beginnings, you are great and strong,
Based on faithful heart and weariless brain,
You build the future fair, you conquer wrong,
You earn the Crown and wear it not in vain

3 Small service is True service While it lasts.

सूखी-हरी पृथ्वी या ऊची-नीची ज़मीन, सभी जगह अपनी उदारता की वर्षा करेगा। वह हर कदम पर और हर मिनट विना सोचे परहित मे कार्य करेगा। मनुष्य का वडप्पन उसके छोटे कामो से ही जाचा जाता है। दैनिक कार्यो मे ही मनुष्य बडे काम कर मकता है। मैं यहा ऐसे थोडे-से काम लिखता हू जिन्हे आप अनायास कर सकते हैं और जिनसे दूसरो की सहायता कर सकते हैं।

सुवह का अखवार पढकर किसी ऐसे आदमी को दे दीजिए जिसके पास अखवार खरीदने के पैसे न हो, अथवा किसी अस्पताल के रोगियो मे वाटने के लिए किसी सस्था को दे दीजिए। किसी अनपढ व्यक्ति की चिट्ठी लिखने का काम दिन मे एक वार अवश्य कीजिए। किसी वृद्ध को मडक पर लडखडाकर चलता देखें तो उसे सहारा देकर उसका काम करवा दें। आप अच्छा गा सकते हैं या वजा सकते हैं, तो कभी उन गरीवो को गाना सुनाइए जो न फिल्म देख सकते हैं, न रेडियो रख सकते हैं। पडोस मे कोई अजनवी आदमी अकेला रहता हो तो उसे कभी-कभी चाय पर वुलाइए। सप्ताह मे एक वार अस्पताल जाकर वीमारो का हाल पूछिए। कोई वीमार सदेश देना चाहता है तो उसके मम्वन्धियो तक वह सदेश पहुचा दीजिए। आपके आसपास सैकडो अनपढ रहते हैं, उन्हें अच्छे नागरिक वनने का सवक दीजिए। यदि आप गाडी मे प्रवेश कर रहे हैं तो किसी वृद्ध या असमर्थ आदमी को अपने मे पहले जाने का अवमर दीजिए। स्त्रिया शरीर से कमज़ोर होती हैं। उन्हे रियायत करना आपका कर्तव्य है। अपने नौकर के साथ भी सभ्यता का व्यवहार करना चाहिए। वह भी उसी समाज का श्रम है जिमके आप हैं।

यदि आपमे सामाजिक चेतना जागरित नही हुई है, तो आप सभ्य और शिष्ट नही हो सकते। तव आप उन अनपढ गवारो से भी गए-वीते हैं जो विनम्र हैं। जो शिक्षा विनय नही सिखाती, वह शिक्षा नहीं है। विद्या मनुष्य को विनय सिखाती है। सभ्य और असभ्य मे यही अन्तर है कि सभ्य व्यक्ति में दूसरो का हित देखने की वुद्धि होती है, असभ्य या जगली आदमी अथवा पशु मे केवल अपना स्वार्थ देखने की। इसी सामाजिक गुण का दूसरा नाम मनुष्यता है। जिस मनुष्य मे यही नही, वह

मनुष्य नही पशु है।

शिष्टाचार का आधार दूसरो को सुख देना है—शिष्टाचार का प्रदर्शन केवल हाथ मिलाने या जोडने मे नही होता, अथवा डिनर टेबल पर बैठने-खाने के ढग मे, या पोशाक के चुनाव मे नही होता। ये बाह्य चिह्न तो अन्दर की सद्भावना के साकेतिक चिह्न हैं। शिष्टाचार का आधार दूसरे को सुख-सुविधा देना ही है। अपनी सहूलियत का खयाल छोडकर दूसरे की भावनाओ का सम्मान करना ही शिष्टता है। सभ्य वही है जो दूसरो की भावना का आदर करता है, उसे हीनता अनुभव नहीं होने देता, उसके उत्कर्ष के लिए और उसकी सुख-सुविधा के हेतु अपने स्वार्थों की वलि दे देता है।

स्वार्थान्ध व्यक्ति यह कुर्वानी नही करेगा। शिष्टता व उदारता का आडम्बर करना आसान है, किन्तु सचमुच उदार होना कठिन है। जो लोग सामाजिकता का आडम्बर करते हैं वे दुनिया को ठगना चाहते है। वे पाखडी, बेईमान और असभ्य हैं। कुछ लोग नम्रता का पाखड करते हैं। झुककर दोनो हाथो से प्रणाम करनेवाले बहुत-से ऐसे हैं जो उन्ही हाथों से दूसरे दिन अपने स्वार्थ के लिए खून करने से नही हिचकेंगे। उन्हे पाखडी कहा जाता है। उनके होठो पर मुस्कान होगी—पर हाथ खून से रगे होंगे। उदारता के पाखडी एक हाथ से गरीवो का गला काटकर धन जोडेंगे और थोडा-थोडा दान देकर महादानी वन जाएगे। ये लोग चोर-वाजारी से लाखो रुपया कमाएगे, पर दो-चार सौ की भेंट सार्वजनिक कार्यों मे देकर नाम कमा लेंगे। यह दान झूठा दान है। यह उदारता थोथी उदारता है। यह धोखा है, फरेव है, चरित्र-निर्माण के मार्ग मे भारी रुकावट है। चरित्र की सवमे पहली शर्त सचाई है, आडम्वरपूर्ण व्यक्ति कभी सच्चा नही हो सकता।

सच्ची प्रशसा आत्मविश्वास का कारण बनती है—प्रशसा से अहभाव पैदा होता है, किन्तु सच्ची प्रशसा ही आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को पैदा करती है। मनुष्य के जीवन मे प्रशसा पाने और देने का वडा महत्त्व है। वहुत वार प्रशसा का अभाव ही मनुष्य मे हीन भावना की उत्पत्ति का कारण हो जाता है। जिसे प्रशसात्मक शब्द सुनने को नही

मिलेंगे, उसका उत्साह ठडा पड जाएगा और कोई भी काम लगन के साथ करने की प्रेरणा खत्म हो जाएगी । उसका आत्मसम्मान टूट जाएगा, और आत्मविश्वास की रस्सी कमज़ोर होती जाएगी ।

वच्चो को उनका व्यक्तित्व पनपने के लिए प्रशसात्मक शब्दो की वहुत आवश्यकता है। अपने अभिभावको द्वारा उसे अपनी रचनाओ पर प्रशसा मिलती रहेगी तभी वह अपनी शक्तियो का विकास करेगा। मा-वाप की उदासीनता वच्चे को निष्क्रिय वना देती है। बच्चो को अच्छे कार्यों मे प्रवृत्त करना या उत्साहित करना पर्याप्त नही है । उन्हे उनकी उन्नति पर प्रशसा भी मिलनी चाहिए। घनप्राप्ति प्रत्येक कार्य का उद्देश्य नहीं होती। घन की प्रेरणा अवश्य आवश्यक प्रेरणा है, किन्तु आत्मतुष्टि उससे भी वडी प्रेरणा है। योग्य माता-पिता वच्चे को हर कदम पर प्रशसा द्वारा उत्साहित करते रहते हैं। प्रशसा वच्चे मे आत्मविश्वास की भावना को जगा देती है। कई वार वच्चे अचानक दुर्घटना से इतने भयभीत हो जाते हैं कि कोई नया प्रयास नही करते । अपने प्रथम प्रयास मे निराशा होने पर भी वे अपने प्रयास को निरन्तर चालू नही रखते । मेरे एक मित्र का वच्चा एक दिन नौ महीने की अवस्था मे जीने से गिर पडा था । उसके वाद उसने चलने के कई प्रयत्न किए, किन्तु पाच वर्ष की अवस्था तक भी वह पैदल नही चल सका । उसके मा-वाप वडे निराश थे। उन्होंने मुझे कहा कि 'हम उसे समझाते-बुझाते, डराते-घमकाते और मारते-पीटते भी है लेकिन वह अपनी आदत से वाज़ नही आता।' वे यह समझते थे कि वच्चे को वैठे रहने की आदत ऐसी पड गई है कि अव वह चलने का यत्न नही करता। दोष उसकी आदत का नही, मा-वाप के स्वभाव का था। मैंने उसके मा-वाप को समझाया कि 'इस अवस्था मे उसे पीटना, डराना या घमकाना निरी मूर्खता है। इस तरह तो कभी भी नही चलेगा । एक वार गिरकर वह अपना आत्मविश्वास गवा वैठा है, अब दूसरो को देखकर भागने-दौडने की कोशिश करता है तो गिर पडता है। तुम उसकी कोशिश पर प्रशसा करने के स्थान पर उसकी नाकामयावी पर डराना-धमकाना शुरू कर देते हो। केवल प्रशसा द्वारा ही तुम उसका खोया हुआ आत्मविश्वास वापस ला सकते हो। अन्यथा वह कभी चलने का उद्योग नही

करेगा।' मेरे कहने पर मा-बाप ने बच्चे के प्रति अपना रुख बदल लिया। तब छ महीने के अन्दर ही बच्चा पैदल चलने लग गया। प्रशंसा के दो शब्द मनुष्य के जीवन मे किस तरह परिवर्तन कर देते हैं—इसका एक उदाहरण श्री ललिताशकर अवस्थी के जीवन की घटना से मिलता है, जो आपने एक आपबीती मे लिखकर भेजी थी। उन्होंने लिखा था

"जब मैं दस वर्ष का था तो मेरे जीवन मे एक ऐसी घटना घटी जो आज भी मेरे मन पर वैसी ही अकित है। पूरे साठ वर्षों का व्यवधान भी उस छाप को मिटाने या धुंधला करने मे समर्थ नही हो सका! बचपन मे मैं बडा शैतान था, हर चीज को तोड-फोड डालता था और उसके लिए माताजी के हाथो पिटता भी था। परन्तु पिताजी ने मुझे कभी नही मारा था। एक दिन पिताजी को चश्मे की जरूरत पडी। उन्होंने मुझसे कहा, 'लालू बेटा, जरा पढने-लिखने के कमरे से चश्मा तो ले आ।' मैं दौडा हुआ गया। चश्मा उठाकर अपनी नाक पर रख लिया और फुर्ती से कमरे की ओर लपका। रास्ते मे चश्मा मेरी नाक पर से गिरा और उसके दोनो काच पत्थर के फर्श पर गिरकर चकनाचूर हो गए। मेरे तो देवता कूच कर गए। हाथ-पाव फूल गए। वही बैठ गया और मारे डर के फूट-फूटकर रोने लगा। पिताजी ने रोना सुना तो दौडे आए। उन्हे सामने देखकर मैं और ज़ोर से रोने लगा। पिताजी ने मेरा हाथ पकड लिया और प्रेम से बोले, 'बेटा! जो हो गया सो हो गया। उसमे तेरा क्या कसूर! वह तो होना ही था।' उसी समय माताजी भी आ गईं, पिताजी से बोली, 'यह बडा बेपरवाह, बेसमझ लडका है। तुम इसे योही सिर चढाते हो।' पिताजी ने शाति से उत्तर दिया, 'तुम नाहक इसे फटकारती हो। असावधानी किससे नही हो जाती! मेरा बेटा बहुत ही समझदार है। इतने अच्छे काम करके आता है—तो एक काम मे भूल हो गई तो क्या हुआ! दस काम सवारेगा तो एक बिगाडेगा भी।' जिन्दगी मे वह पहला मौका था जब मुझे असावधानी करने पर भी प्रशसा के शब्द सुनने को मिले। उस घटना ने मेरे जीवन मे जबर्दस्त परिवर्तन कर दिया। पिताजी की प्रशसा पर पूरा उतरने का मुझे हर समय ध्यान रहता। उस दिन के बाद मैंने कोई चीज नही तोडी, काम मे कभी असावधानी नही की।"

यदि हम दूसरो के गुणो की प्रशसा करें तो निश्चय ही अपना वातावरण आनन्दमय बना सकते हैं। आलोचना के लिए तो हम इतने उतावले हो जाते हैं कि एक क्षण भी धैर्य धारण नही कर सकते। और प्रशसा मे इतने कजूस हो जाते हैं कि ढूढने पर शब्द नही मिलते। समय की भी कमी हो जाती है। हमारी पत्रिकाए, हमारी बातचीत सदा आलोचनात्मक ही रहती है। प्रशसा के लिए हम चुप्पी साध जाते हैं। विश्ववन्द्य महात्माओ की प्रशसा करना विशेष महत्त्व नही रखता। निकट के लोगो की प्रशसा ही अधिक उपयोगी है। अपने घरेलू जीवन मे हमे इसकी सबसे बडी आवश्यकता है। पत्नी पति के लिए कुछ भी करे, पति इस बात की आवश्यकता कभी अनुभव ही नही करता कि प्रशसा का एक शब्द भी कहे। प्रशसा का एक शब्द हमारे दाम्पत्य जीवन को सरस बना सकता है। नौकर के कार्य की प्रशसा करके मालिक नौकर से दुगुना काम ले सकता है। कलाकार तो जीते ही प्रशसा पर हैं। चित्रकार, लेखक, कवि नाट्यकार सभी प्रशसा चाहते हैं। कवि को यदि मुशायरे मे दाद न मिले तो उसकी ज़बान बन्द हो जाती है। व्याख्याता को श्रोताओ की करतल-ध्वनि न मिले तो वह लडखडा जाता है। एक व्याख्याता को सिर हिलाकर श्रोताओ से सहमति लेने का अभ्यास था। यह सहमति मिल जाती थी। एक दिन किसी मसखरे ने सहमतिसूचक इशारे के स्थान पर असहमतिसूचक सिर हिला दिया। व्याख्याता उसके आगे एक शब्द भी न बोल सका। उसकी व्याख्यान-धारा असहमति की चट्टान से टकराकर रुक गई।

जनता की प्रशसा ही नेताओ से देश-सेवा का काम ले सकती है। देशभक्त नौजवान फासी को फूलो की सेज समझकर हसते-हसते उसपर झूल जाते हैं। क्यो ? क्योकि उन्हे जनता की श्रद्धा मिलती है। अपराधी आदमी उसी शूली पर कदम रखने से पहले ही मर जाता है। यह भेद केवल इसलिए है कि 'देशसेवक' को जनता की सराहना मिलती है।

स्तुति-गान से ईश्वर भी प्रसन्न होता है। ईश्वर की प्रसन्नता ही मनुष्य के चरित्र का आधार है। ईश्वर को प्रसन्न करके ही मनुष्य विकास कर सकता है।

प्रेम आत्म

प्रेम और चरित्र—अपनी
करना, जो हमे अभ्युदय के
है। इस व्यवस्था के लिए मनुष्य
वे गुण मनुष्य मे तभी आ सकते
स्वरूप को पहचानने मे उसका
हैं। अतिशय दीनता और अति
सच्चा स्वरूप, आत्मा की ज्योति छिपा रहती है। उस ज्योति के प्रकाश से ही मनुष्य उत्कृष्ट मनुष्य वनता है, मनुष्य देवता वनता है। वह ज्योति प्रेम है। प्रेम आत्मा का प्रकाश है। प्रेम ही जीवन की सर्वोच्च प्रेरणा है। सव प्रेरणाए अन्धी हैं और मनुष्य को विनाश के मार्ग पर ले जाने वाली है। प्रेम-प्रेरित कर्म ही ससार की रचना करते हैं, जीवन को समृद्ध वनाते हैं और हमे अपने परम ध्येय के निकट ले जाते हैं।

'प्रेम', इस दो अक्षर के शव्द का जितना व्यापक दुरुपयोग हमारे जीवन मे होता है उतना किसी दूसरे शव्द का नही होता। ईश्वर के ऊचे दिव्य प्रेम से लेकर अधम से अधम लौकिक प्रेम तक की प्रत्येक प्रेरणा को 'प्रेम' शव्द से व्यक्त किया जाता है किन्तु वहुत कम लोग ऐसे हैं जो 'प्रेम' शव्द का व्यवहार करते हुए उसका सच्चा अर्थ जानते हैं।

प्रेम का लक्ष्य केवल प्रेम की प्राप्ति है—मैं अहभाव या स्वार्थभाव से विपरीत भाव को प्रेमभाव मानता हू। 'अहम्' या 'स्व' के लिए मनुष्य जो कुछ करता है वह स्वार्थ होता है। साधारणतया हमारी सव प्रेरणाओ का आधार स्वार्थ ही होता है। अपनी भूख मिटाने, अपनी रक्षा करने और अपने विस्तार के लिए हम सारे काम करते हैं। किसी भी काम को करने से पहले हम यह देखते हैं कि अतत इसका नतीजा हमारे हक मे कैसा होगा। हमारी स्वार्थपूर्ति होती है तो हम उस काम को करते हैं,

यदि हम दूसरो के गुणो हे फल की आकाक्षा से ही हमारे सब कामो
वरण आनन्दमय वना मुमारा हर काम सौदे की भावना से शुरू होता है।
हो जाते हैं कि एक कहते हैं। मेहनत करने का अर्थ है अपने हिस्से मे से
इतने कजूस हो। जब हम किसी को कुछ देते हैं तो बदले मे कुछ लेने के
कमी हो जुते हैं। हमारी हर मेहनत उसका पुरस्कार पाने के लिए होती
ही रहे है लेन-देन ही जीवन का साधारण नियम है। किन्तु प्रेम इससे
भिन्न है। प्रेम मे यह सौदा नही होता। प्रेम मे केवल देना ही देना है। वह कुछ पाने की आकाक्षा से नही दिया जाता, बल्कि देने के लिए ही दिया जाता है। इसीलिए प्रेम-प्रेरित कर्म बिना किसी स्वार्थमयी आकाक्षा के किए जाते हैं।

प्रेम पुरस्कार नही चाहता, बदला नही चाहता। प्रेम की यही परख है। प्रेम दान करता है तो प्रेम ही, और प्रतिदान लेता है तो केवल प्रेम ही। प्रेम की पूर्ति प्रेम मे ही है। प्रेम का लक्ष्य प्रेम ही है। स्वत कृतार्थ होने के अतिरिक्त प्रेम का कोई उद्देश्य नही होता।

प्रेम-प्रेरित कर्मों मे युक्त होना ही निष्काम कर्म का रहस्य है—प्रेम करनेवाला ही सच्चा कर्मयोगी बन सकता है। केवल प्रेम की प्रेरणा से काम करने का अर्थ है फल की कामना छोडकर कार्य मे प्रवृत्त होना। यही उस निष्काम कर्म का रहस्य है जिसका भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को गीता मे उपदेश दिया था—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥—गीता

कर्म-फल की इच्छा छोडकर काम करना ही प्रेम से काम करना है। साधारणतया यह समझ मे नही आता कि फल की कामना किए बिना कर्म कैसे किया जा सकता है। जो मनुष्य प्रेम करता है वही इसका अर्थ समझ सकता है। प्रेम के बिना कोई काम पूर्णतया से नही किया जा सकता। दुनिया के जितने बडे काम हुए है, सब प्रेम मे हुए हैं, पुरस्कार की इच्छा से नही।

प्रेम की परिधि सम्पूर्ण विश्व—प्रेम का क्षेत्र जितना विस्तृत होता जाएगा, मनुष्य का व्यक्तित्व भी उतना ही विस्तृत होता जाएगा। जब हम

जितना प्रेम अपने को करते है उतना ही प्रगाढ प्रेम दूसरे को करने लगें तभी हम दूसरे से सच्चा प्रेम करते हैं। प्राय होता यह है कि हम प्रेम तो अपने को ही करते हैं किन्तु दूसरे मे थोडा-बहुत दिलचस्पी ही लेते हैं या जब अपने से अवकाश मिलता है और अपने स्वार्थ मे कोई क्षति न पहुचने का भरोसा होता है तब अपने से अन्य को प्रेम करने लगते हैं। प्रेम का यह प्रकाश अपने केन्द्र से दूर जाते हुए, क्षीण होता जाता है, यहा तक कि कुछ दूर जाकर वह घृणा के अधकार मे लीन हो जाता है। हमारे प्रेम का प्रकाश जितनी दूर जा सकता है, यह हमारी आत्मा की ज्योति के तीव्र या मध्यम होने पर निर्भर करता है। इनमे से कुछ हैं जो केवल अपनी सतान तक ही प्रेम का प्रकाश डाल सकते हैं। कुछ ऐसे हैं जिनकी परिधि मित्रो, पडोसियो अथवा अन्य जान-पहचान वालो तक फैल सकती है। कुछ महापुरुष अपने देशवासियो तक अपने प्रेम की ज्योति को पहुचा सकते है। वे अपने देश को प्रम करते हैं, देशवासियो को प्रेम करते हैं, किन्तु अन्य देशो से घृणा करते हैं। इससे भी ऊचे वे हैं जो मानव-मात्र से प्रेम करते हैं। वे सारी दुनिया को उतना प्रेम करते हैं जितना सर्वसाधारण अपने को करता है। हमारे ग्रथो मे इसलिए सब प्राणियो को आत्मवत् जानने का उपदेश दिया गया है।[1]

बाइबल मे इसी प्रेम की चर्चा करते हुए कहा है कि हमे एक-दूसरे से प्रम करना चाहिए, क्योकि प्रेम ही ईश्वर है। जो प्रेम करता है वही ईश्वर को जानता है जो प्रेम नही करता वह ईश्वर को नही जानता।[2]

मनुष्य-प्रेम भी ईश्वर-प्रेम की छाया है—प्रेम की प्रेरणा से काम करना ही ईश्वर की प्रेरणा से काम करना है। प्रेम करना ईश्वर का काम

---

1 आत्मान सर्वभूतेपु सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्ष्यते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥—गीता

2 Beloved, let us love one another, for love is God and everyone that loveth is born of God and knoweth God. He that loveth not knoweth not God, for God is love (Bible)

करना है। अपने स्वार्थ की चिन्ता छोडकर प्रेम के हाथ मे अपनी नाव छोड देना, प्रेम की लहरो मे जीवन को वहने देना, ईश्वर के हाथ मे अपने को सौंप देना है।

फारस के कवि खलील जिब्रान के शब्दों मे, "जब प्रेम तुम्हे बुलाने का सकेत करे तो तुम बिना सकेत उसके अनुचर हो जाओ, भले ही उस की राह विकट, पथरीली और ढालू हो। जब उसके पख तुम्हे ढापने के लिए फैले तो सिमटकर उनमे समा जाओ, भले ही उनके काटो से तुम्हारा शरीर छलनी-छलनी हो जाए।"

ससार से प्रेम करना ही ईश्वर से प्रेम करना है—सच्चा प्रेमी वही है जो ईश्वर की सृष्टि से प्रेम करता है। वह ईश्वर-प्रेम है। सम्पूर्ण जगत् मे वही बसा हुआ है।[1] उससे प्रेम करके ही हम ईश्वर से प्रेम कर सकते है। किसी सूफी कवि ने इसे बडे अच्छे शब्दो मे कहा है—कोई भी मनुष्य प्रेम की भावना से रिक्त नही है, वह प्रेम मनुष्य-प्रेम हो या ईश्वर-प्रेम। मनुष्य-प्रेम मे भी ईश्वर-प्रेम की ही छाया है। मनुष्य-प्रेम की ज्योति ही ईश्वर-प्रेम के रास्ते को प्रकाशित करती है।[2]

प्रेम-मार्ग के काटे भी फूल बन जाते हैं—प्रेम का यह मार्ग ही जीवन का सच्चा मार्ग है, किन्तु इस मार्ग मे काटे विछे है। प्रेमी मनुष्य उन काटो को फूल जानकर दिल से लगाता है। वे काटे ही उसके लिए फूल हो जाते हैं। प्रेम के लिए मरना ही उनके जीवन का चरम आनन्द हो जाता है।

ससार मे ईश्वर-प्रेम के लिए, मनुष्य-प्रेम के लिए और देश, जाति था मानव-मात्र से प्रेम के लिए मरनेवाले महापुरुषो की कमी नही है। महापुरुष वही होते हैं जो इस प्रेम-मार्ग के यात्री होते है। इन मार्ग के

---

1. ईशावास्यमिद सर्वम्।

2 मा वादा हेच दिल वे-इश्कबाजी,
अगर वाशद हकीकी या मजाजी।
मजाज आईना-दार-ए-रू-ए-मा नस्त,
सर-ए-इन जल्व हम दाकूए-मानस्त।

काटो को हृदय से लगानेवाला ही चरित्रवान् हो ... रने वाला
एक ही शब्द की दो परिभाषाए हैं। बहुत बलिदा ... ोग

हैं। जो जितना बलिदान कर सकता है उतना ही

जीवित वही है जो प्रेम के लिए मरता है—य की परख है। कल्याण-अकल्याण की बुद्धि प्राय सबमे सत्य-असत्य, भले-बुरे का तर्क कभी शात नही होता। ...त्य शायद कोई वस्तु ही नही है। आज एक चीज़ सत्य है तो कल वही झूठ हो जाती है। मनुष्यो के विश्वास, उनकी अवस्थाए, धारणाए बदलती रहती हैं किन्तु एक सचाई कभी बदलती नही। वह यह कि ज़िन्दा मनुष्य वही है जो अपने विश्वास के लिए मर सके। अपनी आस्थाओ के प्रति ईमानदार रहना, अपने विश्वास, अपने प्रिय विचारो व व्यक्तियो को इतना प्रेम करना कि उनपर अपने जीवन का प्रत्येक क्षण न्योछावर हो सके, यही चरित्रवान् होना है। यह शक्ति सबमे एक समान नही होती। विश्वास सभी करते हैं किन्तु उसके लिए कष्ट सब नही उठाते। प्रेम सभी करते हैं किन्तु प्रेम मे दीवाने सब नही होते। जो प्रेम मनुष्य को दीवाना न कर दे वह प्रेम नही—क्षणिक आकर्षण है। वह प्रेम कोहरे की तरह आता और स्वार्थ की चमक पडते ही नष्ट हो जाता है। ईश्वर-भक्ति तो सभी करते हैं पर मीरा की तरह कौन गा सकता है?

हे री! मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरो दरद ना जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोणा होय॥

सचमुच प्रेमियो की सेज सूली के काटो पर होती है। काटे ही उन्हे प्रिय हो जाते है। क्योकि उनकी चुभन उन्हे प्रेमी की याद दिलाती है। सच्चे साधक को साधना-मार्ग के काटे भी प्रिय होते हैं। इसलिए उन्हे निराशा, शिथिलता, कायरता कभी निर्बल नही बनाती। मीरा की तरह वे भी विष को अमृत करके पी जाते हैं।

प्रेम का मूल्य बलिदान मे चुकाया जाता है—यही प्रेम था जो देश-प्रेम के रूप मे राणा प्रताप की आत्मा मे जगमगाया था, जिन्होंने अरावली की सूखी घाटियो मे भूखे-नगे रहकर जीवन बिता दिया, किन्तु अकबर की अधीनता स्वीकार करके मेवाड का सिर नीचा नही किया।

राजपूताना का इतिहास इन प्रेम-बलिदानो की कथाओ से भरपूर है। उदयपुर के चूडावत की नवविवाहिता वधू ने अपना सौभाग्य-सिन्दूर से राजा हुआ सिर केवल इसीलिए काटकर रख दिया कि कही चूडावत देश के लिए लडने मे शिथिलमन न हो जाए।

सिक्खो के गुरु श्री तेगबहादुरसिंह ने औरगजेब के धर्म-परिवर्तन के प्रस्ताव को जब अस्वीकार कर दिया तो उन्हे मालूम था कि लोहे के तेज आरे से उनकी बोटी-बोटी काटी जाएगी। फिर भी अपने विश्वास पर पर्वत के समान अटल रहे। उन्हे अपने धर्म से प्रेम था। प्रेम का मूल्य बलिदान मे चुकाना पड़ता है। यह मूल्य चुकाने के समय ही चरित्र की परीक्षा होती हैं।

यही चरित्र का उत्कृष्ट रूप है। यही आत्मबल है। यही आत्मबल, निर्भीकता, दृढता, साहस, त्याग, सत्यनिष्ठा आदि गुणो का आधार है।

महात्मा गाधी भी इसी आत्मबल के मूर्तिमान अवतार थे। यह आत्म-बल उन्होने हठयोग की साधना या तन्त्र-मन्त्र के अभ्यास से नही पाया था। उनकी प्रखर प्रतिभा या विद्वत्ता ने भी उन्हे यह बल नही दिया था। देश मे उनसे अधिक विद्वान् थे। उनसे भी बडे राजनीतिज्ञ थे। परन्तु उनसे अधिक मानव-प्रेम का दीवाना इस देश मे ही नही, शायद ससार-भर मे नही था।

जैसे माता अपने बच्चो के लिए चिन्तित रहती है, वैसे ही वे देश की दु:खी जनता के लिए चिन्ता करते थे। सोते-जागते, उठते-बैठते हर पल उन्हे दरिद्र-नारायण का ही ध्यान रहता था। उनका प्रत्येक कार्य प्रेम-प्रेरित होता था, प्रत्येक क्षण प्रेमार्पित होता था।

समय और स्थान के भेद प्रेम के रग-रूप मे भेद नहीं करते—हम लोग प्रेम के लिए विशेष समय निश्चित करके प्रेम करते हैं। समय की सीमाओ मे बधा हुआ प्रेम सच्चा नही हो सकता। हम एक वस्तु को सुबह प्रेम करें और शाम को प्रेम न करें, यह असम्भव हैं। प्रेम सदा एक-सा रहता है। घर मे, मदिर मे, एकान्त मे या समाज मे, सब जगह उसका एक ही रूप रहता है। जो प्रेम-मदिर मे प्रेम के आसू बहा आता है और बाहर भूख मे तडपते मनुष्य को पाव की ठोकर से ठेल देता है, वह प्रेम नही,

धूर्तता है। रात के अंधेरे में छिपकर दूसरो के गले पर छुरी चलाने वाला डाकू घर मे अपनी स्त्री से जब प्रेम करता है, तो वह प्रेम नही, भोग करता है। स्कूल मे लडको की चमडी उधेडने वाला शिक्षक घर मे भी अपने बच्चो से प्रेम नही कर सकता। दुकान मे ग्राहको की जेब कतरने वाला व्यापारी अपने घर मे भी स्त्री से प्रेम नही करेगा, केवल स्वार्थ-साधन करेगा। राजनीति मे कूटता और धूर्तता से बात करने वाला आदमी अपने मित्रो से भी धोखे की ही बात करेगा। प्रेम और सत्य की भावना के लिए हम विशेष समय निश्चित नही कर सकते। प्रेम का सच्चा रग समय के अनुसार और स्थान-भेद से बदलता नही रहता। यह वह रग है जो चढ गया तो हर समय चढा रहता है। हाट-बाट, घर-बाहर, मंदिर-मस्जिद सब जगह वह एक समान बना रहता है तभी वह चरित्र का अंग बन जाता है, नस-नस मे समा जाता है। हमारी हर चेष्टा मे, हमारी हर सास मे उसका आभास मिलता है।

प्रेम का अर्थ है, पुरस्कार की कामना किए बिना दूसरे की भलाई करना। इस अर्थ को समझकर प्रेम करने वाले व्यक्तियो की सख्या ससार मे यदि लाखो मे दो-चार भी हो जाए तो समाज का और ससार का मानचित्र ही बदल जाए। पडौसी पड़ौसी से न लडें, अदालतो मे समय और धन की बरबादी न हो, प्रत्येक देश को युद्ध-सामग्री के लिए अपनी सारी शक्ति खर्च न करनी पडे। ससार स्वर्ग बन जाए।

सच्चा प्रेम असफल होकर भी विकृत नहीं होता—साहित्यकारो का कहना है कि प्रेम और घृणा के बीच एक पतला-सा परदा है, जो दोनो को अलहदा किए हुए है। अन्यथा दोनो आवेश एक ही भावना के दो रूप हैं। यह बात प्रेम के लिए नही, वासना मूलक आकर्षण के लिए ही सच है। प्रताड़ित वासना (प्रेम नही) घृणा के रूप मे बदल जाती है। प्रेम और वासना मे यही भेद है कि वह कभी प्रताडित नही होता। बदले मे पूरा मूल्य न मिलने पर ही कोई भी भावना प्रताडित होती है। प्रेम (वासना) का बदला जब अभीष्ट प्रेम से न मिले तब प्रेमी का हृदय घृणा से भर जाता है। किन्तु सच्चा प्रेमी तो मूल्य या बदले की अपेक्षा ही नही रखता। वह तो केवल आत्मतुष्टि के लिए प्रेम करता

है। प्रेम के प्रकाशन मे ही वह आत्मतुष्टि पूर्ण हो जाती है। इतने मे ही उसकी तृप्ति हो जाती है। इसलिए वह प्रेम-दान करते हुए पात्र-अपात्र की परीक्षा नही करता। पापी भी उसके प्रेम का पात्र है। कोई भी पापी सम्पूर्ण रूप से पापी नही होता। परिस्थितिया उसकी किन्ही चेष्टाओ को पापमय बना देती हैं। मैले-कुचैले कपडो से ढकी हुई सुन्दर काया की तरह मनुष्य की आत्मा भी मैली वासनाओ से ढकी रहती है। वे मैले कपडे सुन्दर शरीर के बाह्य रूप को ही घिनौना बनाते हैं—शरीर के आन्तरिक सौन्दर्य को नष्ट नही करते। इसी तरह मनुष्य की दिव्य आत्मा भी वासनाओ के आवरण से मलिन प्रतीत होती है। प्रेमी हृदय मैले आवरण मे आवृत ज्योतिर्मयी आत्मा से सदा प्रेम करता है। इस प्रेम का बदला यदि उसे विद्वेष से मिले, या उपेक्षा का तिरस्कार से मिले तो भी वह विकृतमना व्यक्ति से घृणा, द्वेष, उपेक्षा का व्यवहार न करके सहानुभूति का ही व्यवहार करता है।

जिस प्रेम का दीपक सदा एक-सा जलता रहता है वही सच्चा है—हम मे से अधिकाश ऐसे हैं जो कोढ के रोगी को देखकर नाक भी सिकोडते हैं, उसके गलीजपने पर घृणा करते हैं। किन्तु जिसकी आत्मा मे प्रम का दीपक सदा जलता है, वह उस कोढी से भी प्रेम करेगा, उससे सहानुभूति करेगा। सम्भव होगा तो वह उसका उपचार भी करेगा। हम सभी जानते हैं कि महात्मा गाधी अपने आश्रम मे एक कोढी के घावो को अपने हाथो से धोते थे। मानव-प्रेमियो के आसपास ऐसे रोगियो की भीड ही लगी रहती है। उनका हृदय प्रेम का ऐसा झरना होता है जो सदा स्वच्छन्द बहता रहता है। दुनिया मे प्यासो की कमी नही। जो प्यासा हो वह उस झरने से पानी पी सकता है। वहा 'परमिट' या 'लाइसेंस' की जरूरत नही।

हमारी अमीरी हमे प्रेम नहीं, द्वेष करना सिखलाती है—प्रेम के दान मे मूल्य नही लगता, धन खर्च नही होता। दूसरे की वेदना मे अपनी वेदना समझना और उसे अपना ही अग जानकर उसका उपाय करना ही उससे प्रेम करना है। जिन्हे केवल मानसिक सन्ताप होता है उनकी बात को धीरज से सुनने और सहानुभूति प्रकट करने मे कोई मूल्य नही लगता। यही उनका उपचार है। इतने मे ही उनकी विक्षिप्त आत्मा को शान्ति

मिलती है। सहानुभूति का एक शब्द कई वार मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को डूबने से बचा देता है। फिर भी, हममे कितने हैं जो किसी विक्षिप्त व्यक्ति की वात पर कान देते हैं। साधारणतया लोग प्रत्येक वीमारी से, वह मानसिक हो या शारीरिक दूर भागते है। अमीर आदमी हर गरीब आदमी को चोर समझता है या भिखारी। शरीर से स्वस्थ व्यक्ति हर निर्वल आदमी को वीमारी से ग्रसित समझता है। हमारी अमीरी और हमारी क्षमता हमे दुनिया से द्वेष करना सिखाती है। हमारा पाडित्य, हमारी विद्वत्ता दूसरो को मूर्ख बनाना सिखाती है। ऐसी अमीरी और ऐसी विद्वत्ता प्रेम के विना मानव-मात्र के लिए अभिशाप है। प्रेम ही है जो इन गुणो को मानव के लिए कल्याणकारी बनाता है। इसलिए चरित्र-निर्माण मे प्रेम का महात्म्य सबसे बडा है।

दो युवक हृदयो का प्रथम प्रेम—साहित्य की भाषा मे प्रेम शब्द प्राय स्त्री-पुरुष के लैंगिक आकर्षण मे ही प्रयोग किया जाता है। वय-प्राप्त युवक-युवती का प्रथम आकर्षण प्रकृतिगत होने के कारण प्राय. स्वार्थ-रहित और प्रेम-पूरित ही होता है। ईश्वर ने दोनो हृदयो मे एक-दूसरे के प्रति स्वाभाविक प्रेम दिया है। दोनो के हृदय, यदि किन्ही विकारो के प्रभाव से बचे हुए हो, तो एक-दूसरे से मोह की इच्छा से नही वल्कि प्रेम की इच्छा से आकर्षित होते हैं। दोनो प्रमी अपने प्रेम का पुरस्कार केवल प्रेम मे चाहते हैं। जव तक उनका यह प्रेम विशुद्ध प्रेम रहता है तव तक उनकी आत्मा मे एक दैवी प्रकाश हर समय जलता रहता है। उन्हे पृथ्वी-आकाश की हर चीज मे इन्द्रधनुष के रगो की चमक दिखलाई देती है। सूर्य की प्रथम किरण उनके प्रभात को स्वर्णिम बना देती है। प्रभाती पवन के झोके उनके रोम-रोम को पुलकित कर देते हैं। अस्ताचल की घाटी से उठती हुई पपीहे की पागल पुकार उनमे प्यार का उन्माद भर देती है, पर्वत-शिखर से झरते हुए निर्झरो की मरमर ध्वनि का सगीत उन दोनो हृदयो के तारो को झकृत कर देता है, आकाश मे उडते हुए हसो की टोली उनकी कल्पना का पख लगा देती हैं। घनघोर घटाओ की कडक मे भी उन्हे सगीत सुनाई देता है। वरसात की झकझोरकर लहराती हवाओ मे उनकी भावनाए झूम-झूमकर खेलती

मे इतनी ऊची क्यो जा रही हैं ? वैवाहिक असफलता की कहानियो से हमारा साहित्य क्यो पटा पडा है ? मुरझाए हुए दिलो की पखुडिया विलास की आखो मे चारो ओर क्यो विखर रही हैं ?

इन प्रश्नो का एक ही उत्तर है . विवाह करते ही हम प्रेम करना भूल जाते हैं। शायद विवाह की वेदी की आग मे हम अपने प्रेम की ही आहुति दे देते हैं। विवाह के मन्त्रो की उलझन मे हम जीवन के इस गुरु-मत्र को भूल जाते हैं कि प्रेम-प्रेरित कर्म ही सफल होते हैं। हम यह भी भूल जाते हैं कि प्रेम का अर्थ प्रतिफल की कामना किए विना देना है। प्रेम का प्रतिफल प्रेम के सिवा कुछ नही। विवाह करने के वाद जव जीवन की आवश्यकताए हमे क्रियात्मक होने का सन्देश देती हैं तो हमारा दिल अपने प्रेम का मूल्य मागने लगता है, अपने वलिदान की कीमत चाहने लगता है। मूल्याकन की चेतना जानते ही हम सौदागर वन जाते हैं। हम थोडा देकर अधिक की आशा करने लग जाते हैं। हमारी वणिक्-वृत्ति हमे अपनी वस्तु का मूल्य अधिक लगाने और दूसरे की वहुमूल्य वस्तु को भी मिट्टी का खिलौना समझने की आदत डाल देती है।

स्काटलैंड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नील ने एक जगह इस सवध मे लिखा है

"दाम्पत्य जीवन की अधिकतर कठिनाइयो का कारण यह है कि विवाह मे हम अपनी प्रेमिका से अपने प्रेम का प्रतिफल चाहते हैं। लिंगैषणा के क्षेत्र मे तो उत्तर सहज मे मिल जाता है किन्तु जैसे-जैसे दिन वीतते जाते हैं, वैसे-वैसे उसे प्रेम के प्रतिफल की माग असह्य होती जाती है।"

जब विवाह स्त्री-पुरुष का परस्पर शोषण ही रह जाए—पत्नी पति का मूल्य लगाती है उसकी कमाऊ शक्ति से, और पति पत्नी का मूल्य लगाता है उसकी जवानी से, या उसकी गृहकार्य मे दक्षता से। मूल्य लगाने की भावना जागते ही तुलनात्मक वुद्धि जाग जाती है। पत्नी को अपनी जवानी के मूल्य मे पति का उपार्जन कम दीखने लगता है और पति को धनार्जन-शक्ति की तुलना मे पत्नी का यौवन हल्का लगने लगता है। पति-पत्नी दोनो देने की वात भूलकर अपने साथी से लेने और अधिका-

विक लेने की चालें चलने लगते हैं। परस्पर शोषण की यह कामना दोनो का शोषण करती है। शोषण करने वाला स्वय भी शोषित होता है। तभी विवाहित स्त्री-पुरुष का मिलन दो आत्माओ का मिलन न रहकर दो चालाक व्यापारियो का सौदा-बन जाता है। तब दोनो का प्रेम प्रताडित होकर विलास के भूठे आवरण मे शरण ढूढता है। वस्तुत यह विलास प्रेम का पथभ्रष्ट रूप है।

विवाहित जीवन की विषमताओ को दूर करने का उपाय केवल प्रेम ही है। अन्य सब तरीको का इस्तेमाल वृक्ष की जड को न सीचकर पत्तो को पानी देने के समान है। विवाहित प्रेम पर सैकडो पुस्तकें लिखी गई हैं। उनमे व्यावहारिक कठिनाइयो का व्यावहारिक समाधान लिखा गया है। किन्तु न तो कठिनाइयो का कोई अन्त है, न उनके समाधानो का। वस्तुत सब समाधानो का समाधान प्रेम ही है। जो प्रेम जन्म से एक-दूसरे के दुश्मन दो जीवो को मित्र बना सकता है, वह क्या दो सहज आकर्षण से मिले स्त्री-पुरुष के मन्द होते सौहार्द को वापस नही ला सकता? प्रेम की बयार ऐसी है जो एक ही झोके मे जीवन की मुरझाती शाखाओ को हरा-भरा कर देती है। पुरस्कार की कामना किए बिना आप अपना प्रेम दान करेंगे तो आपको प्रेम अवश्य-मिलेगा। प्रेम के बदले यदि आप प्रेम के अतिरिक्त कुछ चाहेगे तो प्रेमी नही, अधम सौदागर हैं। किसी स्त्री को धन की इच्छा है, विलास की इच्छा है, नाम की इच्छा है, तो उसे चाहिए वह धन पैदा करे और कीर्तिवन्त काम करके यशोपार्जन करे और अपने धन मे जितना भोग भोगना चाहे भोगे। विवाह द्वारा अपनी धन-लिप्सा शान्त करके वह विवाह को बदनाम न करे। इसी तरह यदि किसी पुरुष की भोगेच्छा असाधारण रूप से बलवती है या वह अपने वैभव से दुनिया की जवानी को खरीदने का अहकार पूरा करना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह जवानी के बाजार का सौदागर बन जाए, विवाह की पवित्रता को नष्ट न करे, प्रेम के नाम पर अपनी भोग-लिप्सा को बुझाने का यत्न न करे। ऐसा व्यक्ति समाज का शत्रु है, वह मनुष्य के रूप मे भेडिया है।

प्राय ऐसे, स्वय को धोखा देकर दुनिया को धोखा देने वाले स्त्री-

हैं और उसकी मूसलाधार पानी की टपटप उनके दिलो को गुदगुदाती है, उनमे उल्लास भरती है।

11
विवाहित प्रेम का आदर्श

प्रेम का उन्माद उनके जीवन को सब रगो मे रगता है। वह प्रेम का सच्चा रूप है। किन्तु यह नशा देर तक नही रहता। विवाह की वेदी पर आजन्म साहचर्य का व्रत लेने के कुछ काल बाद यह स्वाभाविक प्रेम केवल साहचर्य का व्रत ही रह जाता है। प्रेम का स्थान व्रत, धर्म, नियम और मर्यादा लेते हैं।

युवक-युवती मे स्वाभाविक रूप से विद्यमान प्रेम की बहती धारा को विवाह के धर्म-बन्धन मे बाधने की यह प्रथा सामाजिक प्रतियोगिता को दृष्टि मे रखकर प्रचलित हुई थी। घर बनाना, सन्तान की उत्पत्ति करना और उनके पालन-पोषण-शिक्षण का प्रबन्ध करना, यही इस प्रथा का उद्देश्य था। यह उद्देश्य बहुत ऊचा था। प्रत्येक स्वाभाविक प्रवृत्ति को रचनात्मक कार्यों मे रूपान्तरित करना ही मनुष्य का समूचा आदर्श है। इसीमे उस प्रवृत्ति की पूर्णता है अन्यथा वह प्रवृत्ति निरुद्देश्य होकर पथ-भ्रष्ट हो जाती है। यौन प्रेम को कलात्मक रूप देकर मनुष्य-बुद्धि ने उसे पथभ्रष्ट होने से बहुत अश तक बचाया है। इसके लिए हमे विवाह-प्रथा के आविष्कर्ताओ के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। किन्तु हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस रूपान्तर मे भी वही क्षति हुई है जो प्रत्येक रूपान्तर मे होती है। वह यह कि इस रूपान्तर मे भी मूल वस्तु का सौन्दर्य नष्ट हो गया है। जिस सौन्दर्य के लोभ से हम किसी वस्तु का रूपान्तर करते हैं, यदि रूपान्तर करने की प्रक्रिया मे वह सौन्दर्य ही नष्ट हो जाता है तो हम स्वय अपने आदर्श की हत्या कर देते हैं। विवाह के बन्धनो मे प्रेम की मूल कल्पना का गला ही घुट जाए तो विवाह का प्रयोजन वही नष्ट हो जाता है।

विवाह प्रेम की डोर मे दो आत्माओ को पिरोकर माला बनाना है—कुछ लोग यह मानते है कि विवाह और प्रेम का अनिवार्य सम्बन्ध नही है। प्रेम का अपना स्थान है, विवाह का अपना। मेरे विचार मे भी प्रेम का क्षेत्र बहुत व्यापक है। वह विवाह तक ही सीमित नहीं। किन्तु विवाह के क्षेत्र मे प्रेम का होना अनिवार्य है। प्रेम विवाह के विना भी चल सकता है, किन्तु विवाह बिना प्रेम के सफल नही हो सकता। विवाह दो व्यक्तियो को जिस सूत्र मे पिरोता है, वह सूत्र यदि प्रेम का नही होगा तो या तो वह टूट जाएगा अथवा वह, जिन व्यक्तियो को उसमे पिरोया गया है उनके गले की फासी बन जाएगा दो भिन्न प्रकृति के व्यक्ति केवल प्रेम-डोर से ही इतनी घनिष्ठता से बाधे जा सकते हैं कि उनका बन्धन उनके जीवन की जजीर न बनकर विकास का साधन बन जाए। वैवाहिक कर्त्तव्यो के विषम मार्ग मे जिन पति-पत्नी का प्रेम नष्ट हो जाए वे अपने जीवन का शेष मार्ग बडे कष्ट से पूरा करते हैं। उन्हे एक दिन कई युगो के समान लम्बा हो जाता है। छोटे-छोटे काम पहाड जितने हो जाते हैं। उनकी हर सास मृत्यु का आह्वान करती है। उनकी जबान मे यही आवाज़ निकलती है

ज़िन्दा हू, मगर, जीस्त की लज्ज़त नहीं बाकी,
वह गुल हू-खिज़ा ने जिसे बरबाद किया है।

उनके घरेलू जीवन के उपवन में फूलो की जगह काटो का बाग लग जाता है। एकाध काटा हो तो कोई दूर भी करे, जहा काटो की झाडिया ही झाडिया उग आए, वहा का माली क्या करे ?

विवाहित जीवन की उलझनें—विवाहित जीवन के काटो से लहू-लुहान स्त्री-पुरुषो को देखने के लिए कही दूर जाने की ज़रूरत नही है। जिसे देखो वही घायल है। किसी के दिल की तह तक पहुचते ही वहा उसके कराहने की आवाज आनी शुरू हो जाएगी। हम ज़बान पर ताला तो लगा सकते हैं, पर आखो पर पहरा नही बिठा सकते। विषाद मे डूबी हुई आखें, माथे की त्योरिया, होठो की मसली हुई हसी दिल की बात कह देती है।

यह सब क्यो है ? विवाहित जीवन के असन्तोष की लपटें आकाश

मे इतनी ऊची क्यो जा रही हैं ? वैवाहिक असफलता की कहानियो से हमारा साहित्य क्यो पटा पडा है ? मुरझाए हुए दिलो की पखुडिया विलास की आखो मे चारो ओर क्यो विखर रही हैं ?

इन प्रश्नो का एक ही उत्तर है विवाह करते ही हम प्रेम करना भूल जाते हैं। शायद विवाह की वेदी की आग मे हम अपने प्रेम की ही आहुति दे देते हैं। विवाह के मन्त्रो की उलझन मे हम जीवन के इस गुरु-मत्र को भूल जाते हैं कि प्रेम-प्रेरित कर्म ही सफल होते हैं। हम यह भी भूल जाते हैं कि प्रेम का अर्थ प्रतिफल की कामना किए विना देना है। प्रेम का प्रतिफल प्रेम के सिवा कुछ नही। विवाह करने के वाद जव जीवन की आवश्यकताए हमे क्रियात्मक होने का सन्देश देती है तो हमारा दिल अपने प्रेम का मूल्य मागने लगता है, अपने वलिदान की कीमत चाहने लगता है। मूल्याकन की चेतना जानते ही हम सौदागर वन जाते हैं। हम थोडा देकर अधिक की आशा करने लग जाते हैं। हमारी वणिक्-वृत्ति हमे अपनी वस्तु का मूल्य अधिक लगाने और दूसरे की वहुमूल्य वस्तु को भी मिट्टी का खिलौना समझने की आदत डाल देती है।

स्काटलैंड के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक नील ने एक जगह इस सबध मे लिखा है

"दाम्पत्य जीवन की अधिकतर कठिनाइयो का कारण यह है कि विवाह मे हम अपनी प्रेमिका से अपने प्रेम का प्रतिफल चाहते हैं। लिगैषणा के क्षेत्र मे तो उत्तर सहज मे मिल जाता है किन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, वैसे-वैसे उसे प्रेम के प्रतिफल की माग असह्य होती जाती है।"

जब विवाह स्त्री-पुरुष का परस्पर शोषण ही रह जाए—पत्नी पति का मूल्य लगाती है उसकी कमाऊ शक्ति से, और पति पत्नी का मूल्य लगाता है उसकी जवानी से, या उसकी गृहकार्य मे दक्षता से। मूल्य लगाने की भावना जागते ही तुलनात्मक बुद्धि जाग जाती है। पत्नी को अपनी जवानी के मूल्य मे पति का उपार्जन कम दीखने लगता है और पति को धनार्जन-शक्ति की तुलना मे पत्नी का यौवन हल्का लगने लगता है। पति-पत्नी दोनो देने की वात भूलकर अपने साथी से लेने और अधिका-

धिक लेने की चालें चलने लगते हैं। परस्पर शोषण की यह कामना दोनो का शोषण करती है। शोषण करने वाला स्वय भी शोषित होता है। तभी विवाहित स्त्री-पुरुष का मिलन दो आत्माओ का मिलन न रहकर दो चालाक व्यापारियो का सौदा वन जाता है। तव दोनो का प्रेम प्रताडित होकर विलास के झूठे आवरण मे शरण ढूढता है। वस्तुत यह विलास प्रेम का पथभ्रष्ट रूप है।

विवाहित जीवन की विषमताओ को दूर करने का उपाय केवल प्रेम ही है। अन्य सब तरीको का इस्तेमाल वृक्ष की जड को न सीचकर पत्तो को पानी देने के समान है। विवाहित प्रेम पर सैकडो पुस्तकें लिखी गई हैं। उनमे व्यावहारिक कठिनाइयो का व्यावहारिक समाधान लिखा गया है। किन्तु न तो कठिनाइयो का कोई अन्त है, न उनके समाधानो का। वस्तुत सब समाधानो का समाधान प्रेम ही है। जो प्रेम जन्म से एक-दूसरे के दुश्मन दो जीवो को मित्र वना सकता है, वह क्या दो सहज आकर्षण से मिले स्त्री-पुरुष के मन्द होते सौहार्द को वापस नही ला सकता ? प्रेम की वयार ऐसी है जो एक ही झोके मे जीवन की मुरझाती शाखाओ को हरा-भरा कर देती है। पुरस्कार की कामना किए बिना आप अपना प्रेम दान करेंगे तो आपको प्रेम अवश्य मिलेगा। प्रेम के वदले यदि आप प्रेम के अतिरिक्त कुछ चाहेगे तो प्रेमी नही; अधम सौदागर है। किसी स्त्री को धन की इच्छा है, विलास की इच्छा है, नाम की इच्छा है, तो उसे चाहिए वह धन पैदा करे और कीर्तिवन्त काम करके यशोपार्जन करे और अपने धन मे जितना भोग भोगना चाहे भोगे। विवाह द्वारा अपनी धन-लिप्सा शान्त करके वह विवाह को वदनाम न करे। इसी तरह यदि किसी पुरुप की भोगेच्छा असाधारण रूप से वलवती है या वह अपने वैभव से दुनिया की जवानी को खरीदने का अहकार पूरा करना चाहता है, तो उसे चाहिए कि वह जवानी के वाज़ार का सौदागर वन जाए, विवाह की पवित्रता को नष्ट न करे, प्रेम के नाम पर अपनी भोग-लिप्सा को बुझाने का यत्न न करे। ऐसा व्यक्ति समाज का शत्रु है, वह मनुष्य के रूप मे भेडिया है।

प्राय ऐसे, स्वय को धोखा देकर दुनिया को धोखा देने वाले स्त्री-

पुरुष ही विवाह की असफलता का ढिंढोरा पीटा करते है। वे विवाहित जीवन की विषमताओ से नही, बल्कि अपनी दूषित वासनामूलक कल्पनाओं से ही ठगे जाते हैं। इन विकृत व्यक्तियो की यह पुकार होती है कि विवाहित जीवन की असफलता सिद्ध होने पर पति-पत्नी दोनो को सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार होना चाहिए। मेरी सम्मति मे हमे किसी भी व्यक्ति को उसकी इच्छा के बिना न तो सम्बन्धित करना चाहिए और न ही विच्छेद के अधिकारो से वचित करके अनिच्छापूर्वक सयुक्त युगल को सदा सम्बद्ध रहने को बाधित करना चाहिए। विवाह मे दो आत्माओं का स्वतन्त्र रूप से मिलन होना चाहिए। प्रेम और स्वतन्त्रता साथ-साथ चलते है। प्रेम मे परवशता का कोई स्थान नही है। हा, किन्तु प्रेम स्वय स्वेच्छा से परवश हो जाता है। जिस बन्धन मे आत्मा स्वय अपने-आपको बाध लेती है, वही प्रेम की डोर है। किन्तु यदि वह डोर उसके गले की फासी बनने लगे तो वह प्रेम की नही, घृणा की, भय की डोर बन जाती है। उसे तोडकर फेंक देना चाहिए। लोग विवाह-बन्धन से विच्छेद का कानूनी अधिकार चाहते हैं। मैं तो समझता हू कि मन मे विच्छेद की भावना जागते ही अलग हो जाना चाहिए। प्रेम का सूत्र टूटने के बाद दुनिया-भर की जजीरे भी दो आत्माओ को नही मिला सकती। अस्तबल मे हम दो घोडो को खूटे से बाधकर रख सकते हैं किन्तु पुरुष-स्त्री को भी यदि इसी तरह सामाजिक कानूनो से बाधा गया तो उनकी मनोवस्था भी घोडो की-सी हो जाएगी। अत उन्हे विच्छेद का पूरा अधिकार देना चाहिए।

यहा तक तो मैं उनकी पुकार से सहमत हू किन्तु इस बात मे मुझे बहुत सन्देह है कि जो पुरुष अपनी प्रथम पत्नी को प्रेम करना नही जानता, वह दूसरी पत्नी को कैसे प्रेम कर सकेगा ? वैवाहिक असफलता का कारण मनुष्य को अपने प्रेम मे ढूढना चाहिए। यह आत्म निरीक्षण उसे बता देगा कि प्रेम मे कौन-सी ऐसी त्रुटि है जो वह अपनी स्त्री के हृदय मे प्रेम की ज्योति नही जगा सका। इसी तरह असन्तुष्ट पत्नी को भी अपने प्रेम की परख करनी चाहिए। यदि वह एक पुरुष को प्रेम प्रदान नही कर सकी तो दूसरे को कैसे कर सकगी ?

अपवाद तो दुनिया मे होते ही हैं किन्तु साधारणतया मेरा यह विश्वास

है कि यौवन के प्रभातक
उनका प्रेम चिरस्थायी
दुनिया की ऊच-नीच से
हित जीवन असफल हो
अध्ययन करना चाहिए
होती है। वह जिसे प्रे
करता है। उसके दोष
जो मनुष्य को देवता
स्त्री-पुरुषो के बिगड़े
तोडने पर आग्रह क
है। यह कठिनाई का

नही मिलते। धोखा देनेवाले
किन्तु धोखा देर तक
य बनना पडता है।
ने आप अपने ही
र हो, आपने
व न की
किसी-

सच्चा हल है—प्रेम, निष्काम प्रेम। निष्काम कर्म का गान गीता ने गाया है, निष्काम भावना की महिमा उससे भी ऊची है। यही कामना-रहित भावना प्रेम है।

12

स्नेह का आदान-प्रदान चरित्र का निर्माण करता है

मैत्री प्रेम की अभिव्यक्ति का सुसस्कृत रूप है—मैत्री की भावना आज के सुसस्कृत जीवन मे प्रेम की ही अभिव्यक्ति का एक रूप है। सभ्यता की राह पर चलते हुए मनुष्य ने अपनी प्रवृत्तियो के आधार पर जो नई मनोभावनाए बनाई हैं—उनमे मैत्री की भावना भी है। नई सभ्यता ने परिस्थितियो को एक ओर जटिल बना दिया है और दूसरी ओर उन परिस्थितियो मे आसानी से रहने के उपायो का आविष्कार किया है। मैत्री का आविष्कार ऐसा ही है। मित्र के सहारे मनुष्य अपनी मनोभावनाओ को व्यक्त कर लेता है। जो भावनाए प्रतिकूल वातावरण मे व्यक्त होने से

पुरुष ही विवाह की असफलता लिए अनुकूल वातावरण की तलाश करती
जीवन की विषमताओ से नहीं नुकूल वातावरण प्रदान करने मे समर्थ है।
से ही ठगे जाते हैं। इन क्ति पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ अपनी भावनाए व्यक्त
हित जीवन की असफ
विच्छेद का अधिक ता परिवार के घेरे मे नही मिलती। परिवार की जटिल
को उसकी इच्छ हमारे मानसिक सम्बन्धो को भी जटिल बना देती हैं। एक-
विच्छेद के निष्पक्ष भाव से समझने के लिए जिस उन्मुक्त मन की आव-
सम्बद्ध ता है, वह इन जिम्मेदारियो की छाया मे पक्षपातपूर्ण हो जाता है।
स्वत हमारे हृदय एक-दूसरे मे अपने स्वार्थ की पूर्ति के साधन ढूढने लगते हैं।
हैं प्रेम का स्थान व्यावहारिक उपयोगिता ले लेती है। जीवन-साथी का प्रेम कोरे कर्तव्य मे बदल जाता है। विवाह की वेदी बलिदान की यज्ञभूमि के अतिरिक्त कुछ नही रहती। समाज की जजीरें हमारे गले की फासी बन जाती हैं। ऐसे कटीले जगल मे हमारे व्यक्तित्व की कली कैसे खिल सकती है।

स्नेह का आदान-प्रदान ही मित्रता का लक्ष्य है—परिवार की सकीर्ण दीवारो से हमारा जब दम घुटने लगता है तो हम अपने मेल-जोल का दायरा बढाते हैं। हम समाज की ओर अभिमुख होते हैं। किन्तु समाज की सहानुभूति की आशा करना खारे पानी के समुद्र से मीठे जल की आशा करना है। वहा मानव-हृदय की कमजोरियो के प्रति सहनशीलता के बजाय आपको द्वेष-भावना, कटु आलोचना और उदासीनता ही मिलती है।

परिवार और समाज से निराश होकर मनुष्य जब किसी सच्चे हृदय मे स्नेह के बीज बोता है तो उसे सहानुभूति मिल जाती है। स्नेह का आदान-प्रदान ही मित्रता का नाम है। स्नेह के बदले स्नेह चाहनेवाला ही मित्र हो सकता है। वह स्नेह ही देता है और स्नेह ही लेता है—अन्य कोई स्वार्थ उसका प्रेरक नही होगा। मित्रता मन का सम्बन्ध है। शारीरिक आकर्षण का इसमे कोई स्थान नहीं। प्रेम और मैत्री मे यही भेद है। प्रेम मे मनुष्य शरीर और मन दोनो का सर्वस्व दान करता है। मैत्री मे शारीरिक समर्पण का कोई प्रश्न नही उठता। एक-दूसरे मे अटल विश्वास की उत्कृष्ट भावना और एक-दूसरे के प्रति सच्चा व्यवहार मैत्री के पौधे को सींचते हैं।

जीवन में प्रेमी मिल जाते हैं, सच्चे मित्र नही मिलते। धोखा देनेवाले लोग स्वार्थपूर्ति के लिए कुछ दिन मैत्री बढाते हैं, किन्तु धोखा देर तक टिकता नही। मित्र पाने के लिए स्वय मित्रता के योग्य बनना पडता है। यदि आपको अभी तक सब धोखा देनेवाले ही मिले हैं तो आप अपने ही अन्तर मे झाककर देखिए। आप ही शायद मित्रता के योग्य न हो, आपने कभी स्वार्थ-भावना को तजा न हो और प्यार देने की भूख अनुभव न की हो। हम किसीको विश्वासपात्र बनाकर अपनाने मे बडा डरते हैं। किसी-के सुख-दु ख मे साझी बनने और किसीको अपने सुख-दु ख का साझी बनाने मे हमे सैकडो तरह के सन्देह घेरते हैं। हमारी यह सशयशील वृत्ति हमे किसीका सच्चा मित्र नही बनने देती। हमे अपने ही सन्देहो की छाया दूसरो के हृदय मे प्रतिबिम्बित होती है। उसका प्रतिबिम्ब केवल आपके व्यवहारो को ही विषाक्त नही बनाता, दूसरे के दिल को भी सशयशील बना देता है।

मित्रता का पौधा वह जगली पौधा नही है जो पहाड की सूखी चट्टान मे स्वय पैदा हो जाता है और आधी-तूफानो की छाया मे खुद बढता जाता है। यह तो मनुष्य के नन्दनवन का वह सुकुमार पुष्प है जिसे प्रतिक्षण माली के उदार प्रेम की, सहृदय मन की, सवेदना की और अविकल विश्वास की निरन्तर आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे ये भाव प्रसुप्त रूप से सदा रहते हैं। चरित्र-निर्माण का प्रयोजन इन प्रसुप्त गुणो को जागरित करना है। इनके पानी से आप न केवल व्यक्तिगत मैत्री के पौधे को सीचेंगे—अपितु मानव-प्रेम के ऊचे आदर्शों को व्यवहार मे पूर्ण करेंगे।

मानसिक जटिलता का अन्त आत्मस्वीकृति से ही हो सकता है—जो मनुष्य किसीका मित्र नही बनता, अपने-आपको दूसरो से अलग, अपने मे ही समेटे हुए रखने की सतत चेष्टा करता है, उसके विचार उतने ही अधिक जटिल हो जाते हैं। मनुष्य के मन मे अनेक प्रकार की भावनाए उत्पन्न होती रहती हैं। उन भावनाओ को अपने मित्रो के सामने प्रकाशित करते रहने से वे मानसिक जटिलता का कारण नही बनती। किन्तु हम सब भाव-नाए मित्रो के सामने भी प्रकाशित नही करते। हमे डर होता है कि उन्हें जानकर हमारे मित्र हमसे घृणा करने लग जाएगे। इसी तरह हम अपने

अनेक पापो को मन मे छिपाए रहते हैं। घनिष्ठतम मित्रो के सामने भी उन्हें प्रकट नही करते। मन के गहरे पर्दों मे उन्हें हज़ार कोशिशो से ढककर रखते हैं। एक पाप को छिपाने के लिए अनेक पाप करने पडते है तो वे भी हम करते हैं। छिपाने की यह वृत्ति यहा तक बढ जाती है कि हम अनेक दुष्कर्मों को अपने-आपके सामने भी स्वीकृत करना नही चाहते। हमारी कोशिश यह रहती है कि हम उनको तर्क-सम्मत बना सकें। दलीलो से उन पापो को स्वाभाविक प्रवृत्ति कहकर हम आत्म-सन्तोष करना चाहते हैं। तार्किक व्यक्ति कई वार इस चेष्टा मे सफल भी हो जाते हैं। किन्तु झूठा सतोष देर तक साथ नही देता। पाप की आग राख के अन्दर से भी जल उठती है। तव हम उसे अपनी मानसिक जटिलताओ से ढकने की चेष्टा करते है। इस चेष्टा मे हमारा मन रोगी हो जाता है। वह रोग स्वय हमारी छिपी हुई जटिल भावनाओ को प्रकाशित करने लगता है। वह जटिलता निर्बल होकर टूक-टूक हो जाती है। यूरोप के वैज्ञानिक यग महाशय का कथन है कि बाह्य रोग के रूप मे जब भीतरी मानसिक विकार निकल जाता है तो व्यक्ति आरोग्य का अनुभव करता हैं।

आत्म-स्वीकृति भी मानसिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का ही एक रूप है—बुद्ध भगवान् ने इसीलिए मनुष्य को उपदेश दिया था कि—"ढके हुए को खोल दो, छिपे हुए को प्रकाशित कर दो, तो तुम अपने पापो से मुक्त हो जाओगे।" ईसाई धर्म मे इस आत्म-स्वीकृति का बडा महत्त्व है। वे जानते है कि आत्म-स्वीकृति से मनुष्य ईश्वर की क्षमा का पात्र वन जाता है। क्षमा का पात्र इस अर्थ मे बनता है कि उसकी घनीभूत भावनाओ के वादल जव आसुओ के रूप मे बरस जाते है तो दिल के आकाश मे वादलो की गरज, बिजली की कडक बन्द हो जाती है। पूर्णिमा का चाद आत्मिक शान्ति के रूप मे खिल उठता है। यही ईश्वर की सबसे बडी क्षमा है।

आत्म-स्वीकृति भी एक तरह की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति न पाकर मनुष्य की जटिल भावनाए उसे पागल वना देती हैं। पागलपन का प्राय यही कारण होता है। मुझे कई पागलो का इतिहास जानने का मौका मिला है। पागलखाने के डाक्टरो से भी बातचीत हुई है। थाना (बम्बई) के पागलखाने के डाक्टर ने मुझे बताया कि उनके पास पागलखाने के जितने

रोगी हैं, उनमे से अधिकाश लैंगिक भावनाओ (Sex) को अभिव्यक्ति न मिलने के कारण पागल हुए हैं। एक पागल अपनी स्त्री की बहिन से प्रेम करता था, दूसरा अपने पडौसी की लडकी को चाहता था। इसी तरह के विकृत प्रेमी समाज के भय से अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त न कर सके। अच्छा होता, वे अपने मन को प्रारम्भ मे ही वश मे कर लेते। किन्तु ऐसा भी न हो सका। वे उसीकी चिन्ता मे भीतर ही भीतर घुलते रहे। मन मे गाठ पर गाठ पडती गई। उन गाठो को खोलने का मौका नही मिला। दिन-प्रतिदिन वे गाठें जटिल होती गईं और उनका मस्तिष्क निर्बल होता गया। आखिर जब वे इस अन्तर्द्वन्द्व की पीडा को सहन न कर सके तो ईश्वर ने उनपर कृपा करके उनकी चेतना को उनसे छीन लिया। प्रकृति का यह नियम बडा ही अच्छा है कि दर्द के हद से बाहर जाते ही मनुष्य नि सज्ञ हो जाता है। मानसिक पीडा के लिए भी यह उतना ही सच है जितना शारीरिक पीडा के लिए। पागलपन इसी तरह की नि सज्ञता है।

सहानुभूति ही मन की ग्रन्थियो का उपचार है—इसका केवल एक ही उपचार है—सहानुभूति। पागलो को बीमार कहकर अलग कर देने से वे और भी पागल हो जाते हैं। सच तो यह है कि किसी ऐसे सच्चे मित्र के अभाव मे ही, जो उनकी बात महानुभूतिपूर्वक सुन सके, पागल आदमी अपने मन की गाठें नही खोलता, और वह पागल हो जाता है। सहानुभूति पाकर ही वह अपने दिल को किसीके सामने खोलेगा। इसलिए डाक्टर का पहला कर्तव्य यह होता है कि वह पागलपन के रोगी को अपने विश्वास मे लाकर उसे अपना सच्चा मित्र बना ले। रोगी को यह डर न रहे कि उसका भेद खुल जाने पर वह उसकी नज़रो मे या दुनिया की नज़रो मे गिरा दिया जाएगा।

यूरोप के प्रसिद्ध मानसिक रोगो के चिकित्सक डाक्टर होमर लेन ने पागलपन की चिकित्सा मे अनेक सफल प्रयोग किए हैं। उन्होंने लिखा है कि "रोगी चेतन और अचेतन मन मे एकरसता पैदा हो जाने के बाद स्वय रोग-मुक्त हो जाता है। यह एकरसता तभी आती है जब सहानुभूति का प्रकाश पाकर उसके अर्धचेतन मन की छिपी भावनाए स्वय बाहर आने लगती हैं।"

डाक्टर को रोगी का विश्वासपात्र बनने के लिए उससे न केवल बडे ही प्रेम का व्यवहार करना पडता है वरन् अपने-आपको भी उसके समक्ष खोलना पडता है। उसे कई बाते अपने अनुभव की कहनी पडती हैं। अपने दिल की छिपी बातें कहनी पडती है—जिससे उसे आत्म-स्वीकृति करने मे प्रोत्साहन मिले। यदि कोई पागल काम-सम्बन्धी दुराचार से रोगी हुआ है तो अपने दुराचारो के एक-दो उदाहरण देना आवश्यक होता है। इससे रोगी को उसके साथ आत्मीयता स्थापित करने मे सहायता मिलती है।

13

संतान-प्रेम का महत्व

माता-पिता का प्रेम भी स्वार्थमूलक हो सकता है—प्रेम का स्थान चरित्र-निर्माण मे बहुत महत्त्व का है। हम अपने प्रेम से अपना चरित्र ही नही बनाते, अपने बच्चो का भी बनाते हैं। माता-पिता का सन्तान के प्रति सच्चा प्रेम ही सन्तान को चरित्रवान् बनाता है। आप कहेगे, क्या माता-पिता का प्रेम भी झूठा हो सकता है? झूठा होने का अर्थ है कि क्या वे भी प्रतिफल की कामना से बच्चो का पालन-पोषण करते है? मेरा विश्वास है कि माता-पिता का सन्तान-प्रेम भी प्राय स्वार्थमूलक होता है। मा-बाप बच्चो से प्राय यह कहा करते हैं कि, "बेटा, हमारी लाज रखना, कुल के नाम पर कलक न लगने देना।" अपनी लाज पर, जो प्राय झूठे अभिमान से बनी होती है, या कुल की शोभा पर बच्चो के जीवन को कुर्बान कर देना मा-बाप अपना ईश्वर-प्रदत्त अधिकार समझते हैं। अपनी झूठी शर्म रखने के लिए पिता अपनी लडकी को जहर देकर मार देता है और लडके को दुनिया मे ठोकरें खाने को छोड देता है। जिस कुल की लाज के लिए मा-बाप इतने चिन्तित रहते हैं, वह कुल स्वार्थी, धूर्त, पाखण्डी लोगो की जमात होती है। उस धूर्त-मण्डल के सामने नाक रखने की इच्छा मा-बाप से सन्तान का खून करवा देती है। अपनी कोख से ही जन्म देने वाली माता बहुत बार यह कहते सुनी जाती है कि, "हे भगवान्! इस कलमुही सन्तान को देने के

बदले तो हमे निपूता ही रखते ।" बहुत-से माता-पिता अपने पुत्र का पालन केवल इसलिए करते हैं कि आगे चलकर वह उनके बुढापे का सहारा बन सके ।

निष्प्रेम मा-बाप बच्चो के मन मे जहर भरते हैं—मा-बाप की स्वार्थ-भावना बच्चे के चरित्र पर बुरा प्रभाव डालती है । स्वार्थ के साथ प्रेम का कोई सम्बन्ध नही । मा-बाप स्वार्थी होंगे तो प्रेम नही कर सकेंगे । जो बाप बच्चो की भावनाओ को चोट पहुचाता है, उसकी त्रुटियो को सहन नही करता, उसकी बातो को समझकर उसे रचनात्मक कार्यों मे लगने को उत्साहित नही करता, उसकी कठिनाइयो को आसान बनाकर आगे बढने को प्रवृत्त नही करता, वह अपने बच्चो को प्यार नही करता ।

जो माता-पिता प्रेम की जगह हटर या बेंत से बच्चे को सुधारना चाहते हैं, वे भी बच्चे के दुश्मन होते हैं । खीझकर या चिढकर मा-बाप बच्चे को पीट देते हैं । इस पिटने से बच्चे के मन मे न केवल मा-बाप के लिए घृणा का भाव भर जाता है बल्कि वह दुनिया की हर चीज से घृणा करने लगता है । वह सोचता है यदि उसके मा-बाप इतने क्रूर-निर्दयी हैं तो दूसरे लोग तो पूरे कसाई ही होंगे । ऐसे बच्चे के हृदय मे ससार के प्रति क्रूरता, घृणा, विद्वेष, प्रतिहिंसा के भाव भर जाते हैं । ये सब भावनाए बच्चे के चरित्र को दूषित बनाती हैं ।

अयोग्य अभिभावक चरित्र का नाश कर देते हैं—ऐसे प्रेमहीन मा-बाप को चाहिए कि वे बच्चो के चरित्र बनाने का काम अपने ऊपर न लेकर बच्चो को 'अपना जीवन जीने' की स्वतत्रता दे दें । अयोग्य अभिभावक बच्चे के चरित्र का निर्माण करेंगे तो बच्चा दुश्चरित्र बने बिना नही रह सकता । रूढिप्रिय मा-बाप बच्चो की मौलिक शक्तियो को नष्ट कर देते हैं । आयु बढने के साथ मूर्ख मा-बाप बहुत दकियानूसी हो जाते हैं । वे अपने बच्चो को भी उसी सकीर्ण विचारधारा मे बहाना चाहते हैं । ऐसे वातावरण मे पले बच्चे किसी भी नये विचार को ग्रहण नही कर सकते । उनमें ताजगी नही होती । उनकी नई रचना करने की प्रवृत्ति कुण्ठित हो जाती है ।

जब माता-पिता स्वय एक समस्या बन जाए—मा-बाप का जीवन

प्राय आर्थिक संकटो मे जकडा रहता है। बाप को नौ बजे दफ्तर पहुचना है—वहा मालिक के आगे सिर नीचा करके काम करना है। ऐसे बाप को खेल-कूद व्यर्थ जान पडते हैं और वह बच्चे मे भी सब के सामने सिर भुकाने की आदत डाल देता है। ऐसा बाप बच्चे के चरित्र को विगाड देता है। वह अपने बच्चे को खाली समय खेल-कूद करते देखकर ईर्ष्या करता है। उसे अपना जमाना याद आ जाता है और अपनी तकलीफें याद आ जाती है। उसकी इच्छा रहती है कि उसका बच्चा उन्ही यन्त्रणाओ को झेलता हुआ आगे बढे। कठिनाइया उठाना स्वय मे कोई गुण नही है। लाखो व्यक्ति कठिनाइया उठाते हैं और व्यर्थ उठाते हैं; सफलता फिर भी उनके हाथ नही आती। पिता ने कठिनाइया उठाई हैं, इसलिए बच्चा भी उठाए, यह तर्क स्वार्थ से भरा है। कठिनाइयो से ही तो चरित्र नही बनता। सच तो यह है कि आर्थिक कठिनाइयो के साथ संघर्ष करने के कारण बहुत-से मा-बापो का व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है। अपने बच्चो को भी उन्ही कठिनाइयो में से गुज़ारने की उनकी इच्छा बहुत अनिष्टकारी है। ऐसे मा-बाप मे बच्चे के प्रति सच्चे प्रेम की भावना नही होती। वे बच्चे का चरित्र बनाने के बजाय विगाडने का काम करते हैं। वे स्वय एक समस्या बन जाते हैं।

बच्चे के प्रेम पर एकाधिकार पाने की इच्छा भी स्वार्थ है—मा-बाप का 'अहभाव' भी बच्चे के चरित्र को दूषित करता है। बाप चाहता है कि सिवाय उसके बच्चे का कोई 'ईश्वर' न हो, बच्चे मे उसीकी प्रधानता हो। मा-बाप बच्चे के प्रेम पर भी पूरा अधिकार चाहते हैं। वे हर समय उनसे पूछते रहते हैं, "तू मुझे कितना प्यार करता है ?" इस प्रश्न के पीछे मा-बाप की यह कामना छिपी रहती है कि, "वह उनसे अधिक किसी को प्यार न करे।" बच्चे के मन मे यदि किसी और का प्रेम घर करने लगे तो मा-बाप ईर्ष्यालु हो जाते हैं। बच्चे के प्रेम पर एकाधिकार पाने की इच्छा से मा-बाप बच्चे की अति चिन्ता शुरू कर देते हैं। यह अति चिन्ता बच्चे के हृदय मे माता-पिता के प्रति घृणा के भाव भर देती है, कारण यह है कि बच्चे के लिए अति चिन्ता करने के बाद मा-बाप बच्चो से भी अपने लिए अति चिन्ता की मांग करते हैं। वे बच्चे को कृतज्ञता से दबाकर उसके

जीवन पर एकाधिकार करना चाहते हैं। बच्चे का हृदय स्वतन्त्र होता है। वह इन सकीर्ण वन्धनो से आज़ाद रहना चाहता है। वह खुली हवा मे खुली दुनिया मे सबसे खेलना चाहता है। मा-वाप के लिए ही अति चिन्ता करते हुए उसे अपनी स्वतन्त्रता का त्याग करना पडता है, अपने खेल-कूद का त्याग करना पडता है। यह त्याग बच्चे के विकास को ही नही रोकता, बल्कि बच्चे के मन मे मा-वाप के लिए घृणा भी भर देता है। बर्नार्ड शा की यह वात सोलहो आने सच है कि, "जिसके लिए हम त्याग करते हैं, उसीसे हम आगे चलकर घृणा करने लगते है।" मा-वाप को याद रखना चाहिए कि बच्चा आज़ाद प्राणी है। वह कोई वाद्य यन्त्र नही जिसे मा-वाप इच्छानुसार वजाए।

बच्चो पर अपना धर्म मत लादिए—जो मा-बाप बच्चे पर अपना धर्म लादने की चेष्टा करते हैं, वे भी बच्चे के शत्रु हैं। घर के दादा-दादी, चाचा-चाची प्राय धर्म के नाम पर अपने बच्चो मे भय और शका का ज़हर डालते रहते हैं। वूढे होकर अज्ञ आदमी प्राय प्रगति-विरोधी या परिवर्तन-विरोधी वन जाते हैं। वच्चे मे प्रगति का भण्डार होता है। माँ-वाप उस प्रगति पर रोक-थाम लगा देते हैं। नतीजा यह होता है कि बच्चे की प्रगति विकृत दिशाओ मे चल पडती है। उसकी मन स्थिति विकृत हो जाती है, उसकी प्रवृत्तिया दवकर उसके अचेतन मे छिप जाती है, जो समय पाकर अप्राकृत पापो के रूप मे फूटती हैं। ऐसे बच्चे ही बडे पक्के अपराधी (क्रिमिनल) वनते हैं।

बच्चो की रचनात्मक भावनाओं का सदुपयोग—इसलिए मा-बाप का यह कर्तव्य है कि वे वच्चे की रचनात्मक वृत्तियो को ठीक रास्ता दिखाने का काम करें न कि उनके निरोध। "जीवन मे यदि कुछ है तो वह रचनात्मक क्रिया ही है। यदि हम रचनात्मक होना वन्द कर दें तो हमारी आध्यात्मिक मृत्यु हो जाएगी।"[1] मा-वाप के नैतिक उपदेशो की तुषार-वर्षा मे बच्चे के नवाकुरित मन की कोपलें मुरझाकर मर जाती है। अत उचित यही है कि नैतिक उपदेशो के काटो से वच्चे का रास्ता कटीला न वनाया

---

1 'माता-पिता खुद एक समस्या'—नील

जाए। उन्हें प्रकृति की प्रेरणा के अनुसार जाने दिया जाए और जीवन का स्वयं अनुभव करके शिक्षा लेने दी जाए। बच्चों का वातावरण ऐसा बनाना चाहिए कि उनकी रचनात्मक शक्तियों को व्यक्त होने का पूरा क्षेत्र मिले। बच्चों के चरित्र-निर्माण में मा-बाप इससे बढ़कर और कोई सहायता नहीं कर सकते। केवल खिलौनों से बच्चों का मन नहीं बहलाया जा सकता। ऐसे अरचनात्मक खिलौनों से बच्चे बहुत जल्दी थक जाते हैं। उन्हें सन्तोष तभी होता है जब उन्हें कुछ करने को मिलता है—वह भी एक ऐसा काम जिसकी जीवन में उपयोगिता समझी जाए।

मा-बाप का यह भी कर्तव्य है कि वे बच्चे में हीनता के भाव पैदा न होने दें। हीनता की भावना[1] विकास की सबसे घातक भावना है। बच्चे में छोटा होने के कारण यों भी हीनता की भावना रहती है—फिर मा-बाप उसमें अपनी ओर से भी जोड़ देते हैं। बच्चों को कठिन प्रश्न करने के लिए देना भी इसलिए बुरा है कि बच्चे अपने को असमर्थ समझने लगते हैं। उन्हें उनकी शक्ति के अनुसार सरल प्रश्न ही देना चाहिए।

माता-पिता को आलोचक नहीं बनना चाहिए—हीनता का एक कारण मा-बाप का बच्चा के डील-डौल की आलोचना करनी होती है। मुझे एक ऐसी माता के बारे में पता है जो प्रायः अपने लड़के को 'बांस-सा लम्बा' और लड़की को 'कुबड़ी' कहती है। ऐसी ही एक प्रेमातुर मा अपनी लड़की के सम्बन्ध में प्रायः कहा करती है, "मेरी लड़की अपनी उम्र से बहुत छोटी दिखती है न ?" वह अपनी लड़की को बड़ी होने पर भी 'नन्हीं' कहती रही।

मा-बाप की मूर्खता बच्चों में विचित्र ग्रन्थियां पैदा कर देती है। प्रायः सभी मा-बाप बच्चे के जीवन को इतना जटिल बना देते हैं कि उस उलझन को सुलझाने में ही बच्चे की सारी उम्र खत्म हो जाती है। सब मा-बाप को मनोविज्ञान की अच्छी पुस्तकें पढ़नी चाहिए। बच्चे को केवल अपना दूध पिलाने के कारण ही कोई मा अच्छी शिक्षिका नहीं बन जाती। दूध पिलाना सरल है, बच्चे का चरित्र बनाना कठिन है। ऐसी अशिक्षित माताओं से हमारा यही निवेदन है कि वे बच्चों के चरित्र-निर्माण का बीड़ा

1. Inferiority complex

न उठाए। उन्हें अपना स्वाभाविक प्रेम ही न दें—शिक्षा न दें। अपने जीवन मे सुधार करके ही बच्चो को शिक्षा दी जा सकती है। किन्तु कितने मा-बाप ऐसे हैं जो अपने मे सुधार करने की आवश्यकता भी समझते हैं ?

मेरा यह अभिप्राय नही कि किन्ही भी मा-बाप को बच्चो के चरित्र-निर्माण का अधिकार नही है। ऐसे सौभाग्यशाली बच्चे भी हैं जिनके मा-बाप सचमुच बच्चो के चरित्र-निर्माण के लिए कष्ट उठाते है।

एक आदर्श गृह-प्रेम की व्यवस्था—मेरे एक मित्र हैं जिनके एक-दो नहीं, बारह बच्चे हैं। जटिल बच्चा अपने घर को और पडौसियो के घर को नरक बनाने के लिए एक ही काफी है। पर सुव्यवस्थित बारह बच्चे भी घर की शान्ति नही बिगाडते। बारह बच्चो के इस बाप ने उन सबकी नैतिक शिक्षा का भार अपने कधो पर लिया हुआ है। सुबह ही वह उन्हे लेकर मैदान मे ड्रिल करता है। सब मिलकर एक टीम की तरह शारीरिक व्यायाम करते हैं। बाद मे वे दो भागो मे बट जाते हैं। वयस्क बच्चो का वह स्वय मुखिया बन जाता है और छोटे बच्चो की मुखिया उनकी सबसे बडी बहिन बन जाती है। बाप की गैरहाजिरी मे उसका बडा लडका ही छ. बच्चो के व्यवस्थित कामो का उत्तरदायी होता है। इस तरह का श्रम-विभाजन उसने घर के अन्य कार्यों मे भी किया हुआ है। दो-तीन लडको का दल दूर से पानी भर लाता है और आसपास से लकडिया चुन लाता है। लडकियो मे दो का काम बाजार मे चीजे लाना है, दो का काम रोटी बनाना। घर के अन्य काम भी बडी व्यवस्था मे बटे हुए हैं। परिवार के सब सदस्य सारा काम अपने हाथ से करते हैं।

उनका घर स्वर्ग बन गया है—नतीजा यह है कि बारह बच्चो का कुटुम्ब बहुत निर्धन होते हुए भी ज़िले-भर मे सबसे स्वस्थ है। उनके यहा कलह कभी नही होती। कलह के लिए उन्हे अवकाश ही नही है। वे सब बडे स्वच्छ रहते हैं, क्योकि अपने वस्त्र स्वय धोते हैं। एक-दूसरे की सहायता करते हुए वे बडे सतोष से, सुख से रहते हैं। उन लडकियो की शादी जिन घरो मे हुई है, वे अपने भाग्य को सराहते हैं। घर को स्वर्ग बना दिया है। उन्होने बचपन से स्वावलम्बी और व्यवसायप्रिय होने के कारण बच्चो मे कार्य-तत्परता कूट-कूट कर भर दी है। मेहनत से वे कभी जी नही

चुराते। उनका चरित्र स्वय वन गया है। उन्हे इसका ज्ञान भी नही था कि वे चरित्र वना रहे हैं। इस परिवार ने जो आदर्श स्थापित किया है, सभी मा-वाप उसका अनुकरण कर सकते हैं, यद्यपि मैं 12 वच्चे पैदा करने की नसीहत सवको नही दे मकता।

स्वच्छता, आज्ञापालन, व्यवस्था, समय-पालन, परहित-चिन्ता, शिष्ट व्यवहार, नम्रता तथा अनेक अन्य गुण वच्चे अपने शैशवकाल मे ही सीख लेते हैं। एक वर्ष की आयु से वच्चा अपना चरित्र-निर्माण शुरु कर देता है। मा-वाप का अनुकरण वह सव भले-वुरे कामो मे करता है। स्कूल जाने की उम्र तक उसके अधिकाश गुण पक चुकते हैं। स्कूल के शिक्षक उसे नई सीख नही दे सकते। वे चरित्रहीन विद्यार्थी की उपेक्षा करने लगते हैं। उसे सुधारने का प्रयत्न न करके उसे आखो से दूर कर देते हैं। नतीजा यह होता है कि ऐसा दुर्विनीत वच्चा शिक्षा की सुविधाओ से भी वचित रह जाता है। तव वह अपनी शक्तिया शरारत की ओर लगाता है। खाली घर शैतान का घर होता है। विकृत मन मे शैतान खूव फलता-फूलता हैं। मा-वाप भी उन्हे रचनात्मक कार्यों मे न लगाकर उनकी ओर से आख मूद लेते है, उन्हें उनकी दशा पर छोड देते हैं, अपना जीवन आप विगाडने की छुट्टी दे देते हैं। वच्चा मा-वाप के पथ-प्रदर्शन से रिक्त रह जाता है। यह मा-वाप के प्रमाद का फल है।

खिलौने के चुनाव का चरित्र में स्थान—माता-पिता को न केवल वच्चो के लिए खिलौने चुनने चाहिए वल्कि वच्चे की शक्तियो को सुदिशा मे लगाने की भी व्यवस्था करनी चाहिए। और शिक्षा देते हुए उनकी रुचि के योग्य व्यवसाय चुनने मे सहायता देने का कार्य भी मा-वाप को करना चाहिए। यहा यह स्मरण रखना चाहिए कि मा-वाप को अपनी आकाक्षाओ को वच्चे पर लादने का अधिकार नही है। आपको चित्रकला का शौक है और आप उसे अपने जीवन मे पूरा नही कर सके तो आप उसे अपने वच्चे द्वारा पूरा करना चाहते हैं। यह अनुचित है, अन्यायपूर्ण है। सम्भव है वच्चे को चित्रकला मे रत्ती-भर भी रुचि न हो, वह इजीनियर वनना चाहता हो। आपका कर्तव्य है उसे इजीनियर वनाने की सव सुविधाए दें।

14

व्यवसाय और चरित्र-निर्माण

अपने सच्चे व्यवसाय को खोजिए—मनुष्य यदि अपने व्यवसाय मे सफल नही होता तो उसके चरित्र-निर्माण के सब प्रयत्न बेकार हैं। वेतन की बात छोड दें तो हर इसान का कोई न कोई व्यवसाय अवश्य होता है। किसी न किसी चेष्टा या चेष्टा-समूह मे ही उसका जीवन लीन रहता है। कठिनाई यह है कि वह अपना व्यवसाय पहचान नही पाता। एक ही मनुष्य बहुव्यवसायी होता है। मोहन दफ्तर मे क्लर्क है, घर मे पति ह, बच्चो का पिता है, समाज मे मन्त्री है, खेल के मैदान मे खिलाडी है, और क्लब मे ब्रिज खेलने में सिद्धहस्त है।

श्रीमती मोहन से उनके व्यवसाय की बावत पूछते ही वे उत्तर देंगी, "मैं गृहिणी हू, घर की देखभाल मेरा पेशा है।" अग्रेजी वाले उनके पेशे के खाने मे लिख देंगे पेशा—हाउस वाइफ। किन्तु यह सबको मालूम है कि गृहिणी होने का मेहनताना स्त्री को नही मिलता। फिर भी उसका व्यवसाय घर की देखभाल करना है। किन्तु यह उनका व्यवसाय है—इस बात से प्राय सभी पत्निया वेखवर होती हैं। अक्सर वे यही कहा करती हैं—स्त्रियों को भी कोई व्यवसाय करने का अधिकार होना चाहिए। मन की यह अवस्था स्वस्थ नही है। हमे ठहरकर सोचना होगा कि हमारा व्यवसाय क्या है? हमे इसका निश्चित ज्ञान होना चाहिए। तभी हम पूरी लगन से, पूरी जिम्मेदारी से उस काम को निभा सकते हैं।

अपने व्यवसाय को रोटी का आज्ञापत्र नहीं मानना चाहिए—अपने व्यवसाय को रोटी का परमिट देनेवाला टिकट ही मानना जीवन की भारी उम्मीदो मे से एक है। केवल कुछ प्रतिभाशाली ही ऐसा नही मानते। किन्तु वे तो अपवाद हैं। ऐसे विरले आदमियो का पन्थ निराला ही है। साधारण व्यक्ति उनका अनुकरण नहीं कर सकते। इसीलिए व्यवसाय के नाम पर, व्यवसाय के समय वे अपनी रुचि से सर्वथा विरुद्ध काम केवल रोटी की खातिर किया करते है। कुछ चित्रकार हैं जो सप्ताह मे छ दिन

ऐसे चित्र बनाते रहते हैं जिन्हे देखकर वे भी लज्जित हो और केवल अवकाश के समय इतवार को अपने मन के चित्र बनाते हैं। ऐसे कवि है जो आजीविकोपार्जन के लिए तो बेहूदा अश्लील फिल्मी गाने लिखते है और रात के अवकाश मे स्वान्त सुखाय ऊचे गीतो की रचना करते हैं। ऐसे कलाकार कला से वेश्यावृत्ति करवाते हैं। इससे भी अधिक दुर्भाग्य यह ह कि वे अपने व्यवसाय से, उस काम से जो उनको अन्न देता है, घृणा करते है। वे अपने से घृणा करने लगते हैं।

कोई भी व्यवसाय घृणित नहीं है—कोई भी काम स्वय घृणित नही है। करनेवाने की मनोवस्था ही घृणित या गौरवान्वित, ऊचे या नीचे दर्जे को बनाती है। मन से न पढानेवाले प्रोफेसर की अपेक्षा पूरे मन से सडक पर झाड़ू देनेवाला भगी अधिक प्रतिष्ठित काम करता है। एक हलवाई की दूकान पर ऐसी स्वादिष्ट मिठाई बनाना, जिसपर दूकानदार अभिमान कर सके और जिसे ग्राहक सराहें, अधिक अच्छा है अपेक्षा उस अखबार मे ऊचे वेतन पर सम्पादक बनकर काम करने के जहा आपको अपनी आत्मा के विरुद्ध लिखना पडता हो और ऐसी बातो का प्रचार करना पढता हो जिन्हें आप मन से घृणा करते हैं।

अत आजीविकोपार्जन के लिए व्यवसाय का चुनाव करते हुए आपको यह ध्यान कर लेना चाहिए कि कही आपको अपनी आत्मा के विरुद्ध आचरण तो नही करना होगा। व्यवसाय के साथ मनुष्य का चौबीस घण्टे सम्पर्क रहता है। उसके व्यवसाय का चरित्र बनाने मे बहुत बडा भाग है।

काम के समय खेल और खेल के समय काम—अपने काम मे मनुष्य को इतनी दिलचस्पी होनी चाहिए कि वह खेल-खेल मे सब काम कर सके। काम के समय काम और खेल के समय खेल का मुहावरा गलत है। काम के समय खेल और खेल के समय काम करने से ही खेल और काम एक सदृश हो सकेंगे। काम से आनन्द की प्रतीति न हो तो वह छोड देना चाहिए। जीवन का बडा भाग निरानन्द काम मे बिता देना सबसे बडा दुर्भाग्य है। उपनिषद् का कथन है कि "आनन्द से ही विश्व बना है।"[1]

---

1 आनन्दादेव खल्विमानि सर्वाणि भूतानि जायन्ते।

चेतन के लिए काम करना फल की आकाक्षा से काम करना है, परन्तु आनन्द की प्रेरणा से काम करना ही वह निष्काम कर्म हैं जिसका वर्णन गीता मे है।

पत्नियो का व्यवसाय गृहस्थी का व्यवसाय है। उसी काम मे उनका व्यक्तित्व बनता है। उसे काम न समझकर स्कूल की अध्यापकी करने वाली पत्निया बडी भूल करती हैं। अपने गृहस्थ के कामों मे यदि उन्हे आनन्द नही आता तो वे गृहस्वामिनी होकर, पत्नी होकर पति को धोखा देती हैं, गृहस्थ की पवित्रता को कलकित करती हैं। सचाई की माग है कि वे गृहस्थ का कार्यभार छोडकर अध्यापिका ही बनें। इस परिवर्तन से उन्हे आनन्द मिलेगा और उन्हे जन्म-भर पाखड के कुचक्र मे पिसना नही पडेगा।

घर के काम मे ही पत्नी को आनन्द लेना चाहिए, यह कह देना जितना आसान है उतना आनन्द लेना आसान नही। बाहर के कामधधो की उन्नति बहुत जल्दी सामने आ जाती है। चार्ट या ग्राफ बनाकर आप अपने काम का परिणाम तुरन्त माप सकते हैं। घर मे ऐसी लाभ-हानि के जोखने का कोई इन्तजाम नही। बच्चे की मानसिक उन्नति हो रही है या नही, उसे साल-भर मे जुकाम कितनी बार हुआ, कम हुआ या अधिक, इन्ही बातो से गृहिणी का काम नापा जा सकता है ये मापदण्ड अस्पष्ट और बरसो बाद कुछ परिणाम दिखानेवाले हैं।

गृहकार्य मे कठिनाइया—घर के काम मे तरक्की भी नही मिलती। काम ज्यादा करो या कम, गृहिणी वही की वही रहेगी। अच्छा या ज्यादा करने से उसको न तो कोई ओहदा बडा मिल जाएगा, न ही उसके बैक की रकम मे वृद्धि होगी।

घर के काम की सीमा मे समय नहीं है। चौबीस घटे का काम है। पत्नी चौबीस घटे अपने कारखाने मे रहती है। कोई परिवर्तन नही, विविधता नही। उसे ऐसे विविध काम करने पडते हैं कि दिमाग चकरा जाए। उसका काम यन्त्रवत् काम करना नही। सब काम अपनी अकल से सवारकर करना पडता है।

घर के काम का कोई चमकता भविष्य भी नजर नही आता। उस

मेरे दस रुपये, इसलिए उन दस रुपयो का विनिमय-मूल्य एक-सा है। किन्तु सम्भव है आपके दस रुपयो का मूल्य आपके लिए उतना न हो जितना मेरे दस रुपयो का मूल्य मेरे लिए है। आपके दस रुपये आपको किसी बढिया होटल मे एक समय का खाना खिला सकते हो किन्तु मेरे दस रुपये मुझे अकेले के लिए नही, मेरे परिवार के लिए भी सप्ताह भर राशन दे सकते हो।

दो हज़ार रुपया प्रतिवर्ष खर्चने वाले लोग बीस हजार सालाना खर्च करनेवालो को फिजूलखर्च और अय्याश समझते है और बीस हज़ारवाले दो हज़ारवालो को दरिद्र और असहाय समझते है। यह कशमकश सदियो से चली आई है और जारी रहेगी। इस विषमता को दूर करने के उपाय सुझाना इस पुस्तक का ध्येय नही है। मैं तो केवल ऐसे सुझाव रखने की कोशिश करूगा जिनकी सहायता से आप अपने उपार्जित धन का मूल्य बढा सकते है। आप ऐसा कर सकेंगे तो आपको धन की कमी कगाल नही बनाएगी और धन की प्रचुरता दुश्चरित्र नही बनाएगी। चरित्रवान व्यक्ति थोडे धन मे भी समृद्ध हो सकता है।

व्यय की व्यवस्था कीजिए—व्यवस्था का अभिप्राय पाई-पाई के हिसाब से या रोकड लिखने अथवा बही-खाते बनाने से नही है। दो पैसे का रोकड मिलाने के लिए सारी रात जागकर दो आने का तेल खर्च करना मूर्खता की पराकाष्ठा है। भागीदारी व्यापार मे ऐसा करना शायद कुछ अर्थ रखता हो, किन्तु घर के या एक व्यक्ति के रोज़नामचे मे ऐसा हिसाब एक सनक के सिवा कुछ नही। व्यवस्था से अभिप्राय केवल यह है कि हमे अपनी आमदनी को देखते हुए अपने खर्चों की योजना बना लेनी चाहिए। आमदनी दो हज़ार हो तो खर्च दो हज़ार मे कुछ कम होना उचित है। जिसका व्यय आय से कम होगा वह सदा अमीर रहेगा। किन्तु व्यय की यह कमी आय मे बहुत कम नहीं होनी चाहिए। अपनी आय को देखकर ही हमे अपने घर का, घर की सजावट का, अपने वस्त्रो का और बच्चो की शिक्षा का दर्जा निश्चित करना है। एक बार इनका निश्चय कर लीजिए। और फिर जब तक आपकी आय मे कमी-बेशी न हो उसी में सतुष्ट जीवन बिताइए। बार-बार उसमे हेर-फेर करने या दूसरो को

देखकर आह भरने की आदत छोड दीजिए। अपने जीवन को व्यवस्थित करने की यह स्वर्णिम योजना है।

एक बात का ध्यान रखिए। यदि आपकी आमदनी मे पाच सौ रुपये की वृद्धि होती है तो आप सभी मदो मे तरक्की नही कर सकते। आमदनी बढते ही सब ओर फैलना शुरू मत कीजिए। यदि आप अपने रहन-सहन से सतुष्ट हैं तो उसे वैसा ही रहने दीजिए। इस अचानक आए धन को अचानक आपत्ति से बचने के लिए सुरक्षित रख लीजिए। इस तरह सुरक्षित रखा हुआ धन आपको जितना सतोप देगा उतना उसके खर्च करने से पाया हुआ क्षणिक आनन्द नही। इस रकम को ऐसे मद मे रख दीजिए जहा वह देर तक अछूती रह सके। लक्ष्मी बडी चचल होती है। भाग्याकाश मे अचानक चमके तारे के प्रकाश मे जीवन-यात्रा पूरी नही हो सकती। लक्ष्मी का सम्मान करना चाहिए। मितव्ययिता मे ही उसका सम्मान है। अतिव्यय करना उसका अपमान करना है।

अपना चुनाव आप कीजिए—आवश्यक और अनावश्यक व्यय की मदो का निश्चय करना व्यक्तिगत चुनाव पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार इसका निश्चय करने का अधिकार है। किसी दूसरे का इसमे दखल नही है। पडोसी के चुनाव को अनावश्यक फिजूलखर्ची कहना और अपने चुनाव को आवश्यक व्यय कहना मनुष्य की ईर्ष्यालु मनोवृत्ति को प्रकट करता है। हमारा मकान बनाने मे हजारो रुपया खर्च कर देना दूरदर्शिता है, और दूसरे का उतने ही धन मे मोटर रखना, या घर की सजावट का फर्नीचर खरीदना अपव्यय है—यह तर्क सच्चा नही है। कुछ लोग मोटर मे भी व्यापारिक लाभ उठा लेते है और कुछ मकान बनाकर भी रुपये को मिट्टी कर देते हैं और गरीबी मे ही शेप जिन्दगी गुजारते है। आवश्यक व्यय से अतिरिक्त धन को खर्च करने मे पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। तुलना करना बहुत बुरी आदत है। अपनी रुचि के अनुसार उसे खर्च करना चाहिए।

हा, एक बात का ध्यान रखना चाहिए। हम अपनी रुचि के अनुसार ही खर्च करें, पडोसियो की रुचि के अनुसार नही। अपव्यय प्राय दूसरो की नजरो मे अमीर बनने के लिए ही होता है, आत्मतुष्टि के लिए नही।

काम से पत्नी का भविष्य क्या बनता है ? पैंतालीस वर्ष की उम्र तक पति तो अपनी सफलता के मद मे झूमता नजर आता है और पत्नी का व्यक्तित्व मुरझाकर समाप्त हो जाता है।

इतनी कठिनाइयो के होते हुए भी पत्नी को अपना काम दिलचस्पी से करना चाहिए, क्योकि काम का आनन्द काम के परिणाम मे नही, काम करने मे ही है। प्रेम-प्रेरित कर्म का फल प्रेम के सिवाय कुछ नही होता।

घर फूलो की सेज है, काटों की झाड़ी नहीं— 'मैं बच्चो के लिए जी रही हू' यह कहना ही बुरा नही है बल्कि ऐसी मन स्थिति भी गहरे असन्तोष को जतलानेवाली और अस्वास्थ्यकर है। घर का ताना-बाना प्रेम से बना जाता है, बलिदान से नही। घर सुन्दर फूलो का बगीचा है, काटो की सेज नही है। जहा वह काटो की सेज है वहा घर के सब सदस्यो के लिए है। जब प्रेम न हो तो फूल भी काटे बन जाते है। प्रेम हो तो काटो की झाडिया ही पुण्यशय्या का काम देती हैं। जिसके लिए केवल बलिदान किया जाता है, प्रेमहीन कर्म किया जाता है, उसे मन से आप घृणा करते हैं। अन्यथा अपने काम को आप कभी बलिदान न कहे। ऐसे बलिदानप्रेरित गृहकर्म की अपेक्षा उस कर्म का त्याग ही श्रेयस्कर है क्योकि अनमने दिल से घर का काम करने से न केवल आप अपना जीवन बरबाद करती हैं बल्कि सन्तान का भविष्य भी बिगाडती हैं।

पत्नियो को पति के व्यवसाय के सम्बन्ध मे कैसी मन स्थिति रखनी चाहिए, इस प्रश्न पर भी दो शब्द कह देना उचित होगा। अभी तक समाज की व्यवस्था जैसी है उसमे पति की आजीविका ही ऐसा केन्द्रबिन्दु है जिसके इर्द-गिर्द पारिवारिक जीवन का गोल बनता है। अर्थात् कमाई थोडी हो या अधिक, वह कमाई ही घर का आधार होती है। जहा पत्निया स्वय कमाई करने लगती हैं वहा भी यही बात सच है। उनकी कमाई से घर का खर्च चलाने की बात अभी हमारे मन को जचती नही। इसे पुराना सस्कार कहिए या पुरुष की प्रभुता-प्रियता। आज तक दुनिया के हर हिस्से मे यही प्रथा प्रचलित है। और वे सस्कार इतने गहरे जा चुके हैं कि उन्हे तर्क की नोक से इतनी जल्दी बाहर निकाल फेंका नही जा सकता। जब तक वे सस्कार है तब तक पत्नी का यह कर्तव्य है कि

वह पति के व्यवसाय को ही घर की नीव माने। पति को ही घर का स्वामी मानकर उसकी प्रभुत्ता को पनपने दे, उसके व्यवसाय को घर के लिए अभिमान का कारण समझे। प्राय पुरुष को अपने व्यवसाय से प्रेम होता है। स्त्री को उसके व्यवसाय के प्रति आदर-भाव दिखाना चाहिए। उसकी कमाई को 'थोड़ा' या 'बेकार' कहकर उसके दिल पर चोट नही पहुचानी चाहिए।

इसी तरह पति को पत्नी के कार्य का सम्मान करना चाहिए। इस परस्पर सम्मान से ही प्रेम बढता है।

15

आर्थिक अवस्था का चरित्र पर प्रभाव

धन स्वय अच्छा है न बुरा—आज के युग मे मनुष्य के व्यक्तित्व मे धन का बहुत बडा हाथ माना जाता है। धन की शक्ति अन्य शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियो से अधिक महान् मानी जाती है। यह अर्थ-युग का अभिशाप है। धन-सग्रह को सुखी जीवन का एक उपकरण-मात्र समझने के स्थान पर लोग इसे ही ध्येय मान बैठे हैं। धन ही उनका देवता हो गया है और धन ही उनका निर्माण। व्यवसाय-युग ने ही मनुष्य का यह दृष्टिकोण बना दिया है। युग की कुछ बुराइया हैं, कुछ भलाइया। हमारा जीवन दोनो से ओतप्रोत है। इन्ही विषम घाटियो के बीच मे से हमे गुजरना है। धन की भलाई-बुराई उसका उपयोग करने वाले की मन स्थिति पर निर्भर करती है। इसका उपयोग रचनात्मक व विनाशात्मक दोनो कार्यों मे हो सकता है। सदुपयोग से यह सबसे बडा वरदान और दुरुपयोग से अधमतम अभिशाप बन जाता है।

'धन' एक अपेक्षित शब्द है—धन का दुरुपयोग या विनाशात्मक उपयोग प्राय. वही होता है जहा यह आवश्यकता से अधिक हो। धन के क्षेत्र मे 'अधिक' शब्द भी बडा अस्पष्ट-सा शब्द है। इसकी ठीक व्याख्या नही की जा सकती। आपके दस रुपये उतनी ही चीजें खरीद सकते हैं जितने

मेरे दस रुपये, इसलिए उन दस रुपयो का विनिमय-मूल्य एक-सा है। किन्तु सम्भव है आपके दस रुपयो का मूल्य आपके लिए उतना न हो जितना मेरे दस रुपयो का मूल्य मेरे लिए है। आपके दस रुपये आपको किसी वढिया होटल मे एक समय का खाना खिला सकते हो किन्तु मेरे दस रुपये मुझे अकेले के लिए नही, मेरे परिवार के लिए भी सप्ताह भर राशन दे सकते हो।

दो हज़ार रुपया प्रतिवर्ष खर्चने वाले लोग बीस हज़ार सालाना खर्च करनेवालो को फिजूलखर्च और अय्याश समझते है और बीस हज़ारवाले दो हज़ारवालो को दरिद्र और असहाय समझते है। यह कशमकश सदियो से चली आई है और जारी रहेगी। इस विषमता को दूर करने के उपाय सुझाना इस पुस्तक का ध्येय नही है। मैं तो केवल ऐसे सुझाव रखने की कोशिश करूगा जिनकी सहायता से आप अपने उपार्जित धन का मूल्य वढा सकते हैं। आप ऐसा कर सकेंगे तो आपको धन की कमी कगाल नही वनाएगी और धन की प्रचुरता दुश्चरित्र नही बनाएगी। चरित्रवान व्यक्ति थोडे धन मे भी समृद्ध हो सकता है।

व्यय की व्यवस्था कीजिए—व्यवस्था का अभिप्राय पाई-पाई के हिसाव से या रोकड लिखने अथवा वही-खाते बनाने से नही हैं। दो पैसे का रोकड मिलाने के लिए सारी रात जागकर दो आने का तेल खर्च करना मूर्खता की पराकाष्ठा है। भागीदारी व्यापार मे ऐसा करना शायद कुछ अर्थ रखता हो, किन्तु घर के या एक व्यक्ति के रोजनामचे मे ऐसा हिसाव एक सनक के सिवा कुछ नही। व्यवस्था से अभिप्राय केवल यह है कि हमे अपनी आमदनी को देखते हुए अपने खर्चों की योजना वना लेनी चाहिए। आमदनी दो हजार हो तो खर्च दो हज़ार से कुछ कम होना उचित है। जिसका व्यय आय से कम होगा वह सदा अमीर रहेगा। किन्तु व्यय की यह कमी आय से वहुत कम नही होनी चाहिए। अपनी आय को देखकर ही हमे अपने घर का, घर की सजावट का, अपने वस्त्रो का और वच्चो की शिक्षा का दर्जा निश्चित करना है। एक वार इनका निश्चय कर लीजिए। और फिर जव तक आपकी आय मे कमी-बेशी न हो उसी मे सतुष्ट जीवन विताइए। वार-वार उसमे हेर-फेर करने या दूसरो को

देखकर आह भरने की आदत छोड दीजिए। अपने जीवन को व्यवस्थित करने की यह स्वर्णिम योजना है।

एक बात का ध्यान रखिए। यदि आपकी आमदनी मे पाच सौ रुपये की वृद्धि होती है तो आप सभी मदो मे तरक्की नही कर सकते। आमदनी बढते ही सब ओर फैलना शुरू मत कीजिए। यदि आप अपने रहन-सहन से सतुष्ट है तो उसे वैसा ही रहने दीजिए। इस अचानक आए धन को अचानक आपत्ति से बचने के लिए सुरक्षित रख लीजिए। इस तरह सुरक्षित रखा हुआ धन आपको जितना सतोप देगा उतना उसके खर्च करने से पाया हुआ क्षणिक आनन्द नही। इस रकम को ऐसे मद मे रख दीजिए जहा वह देर तक अछूती रह सके। लक्ष्मी बडी चचल होती है। भाग्याकाश मे अचानक चमके तारे के प्रकाश मे जीवन-यात्रा पूरी नही हो सकती। लक्ष्मी का सम्मान करना चाहिए। मितव्ययिता मे ही उसका सम्मान है। अतिव्यय करना उसका अपमान करना है।

अपना चुनाव आप कीजिए—आवश्यक और अनावश्यक व्यय की मदो का निश्चय करना व्यक्तिगत चुनाव पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार इसका निश्चय करने का अधिकार है। किसी दूसरे का इसमे दखल नही है। पडोसी के चुनाव को अनावश्यक फिजूलखर्ची कहना और अपने चुनाव को आवश्यक व्यय कहना मनुष्य की ईर्ष्यालु मनोवृत्ति को प्रकट करता है। हमारा मकान बनाने मे हजारो रुपया खर्च कर देना दूरदर्शिता है, और दूसरे का उतने ही धन मे मोटर रखना, या घर की सजावट का फर्नीचर खरीदना अपव्यय है—यह तर्क सच्चा नही है। कुछ लोग मोटर से भी व्यापारिक लाभ उठा लेते है और कुछ मकान बनाकर भी रुपये को मिट्टी कर देते है और गरीबी मे ही शेष जिन्दगी गुजारते है। आवश्यक व्यय से अतिरिक्त धन को खर्च करने मे पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। तुलना करना बहुत बुरी आदत है। अपनी रुचि के अनुसार उसे खर्च करना चाहिए।

हा, एक बात का ध्यान रखना चाहिए। हम अपनी रुचि के अनुसार ही खर्च करें, पडोसियो की रुचि के अनुसार नही। अपव्यय प्राय दूसरो की नजरो मे अमीर बनने के लिए ही होता है, आत्मतुष्टि के लिए नही।

यह बुरा है, चरित्र की निर्वलता का चिह्न है। दूसरो को जलाने के लिए हम जिस धन की होली खेलते है उससे हमारा भविष्य भी जलता है। अपने आराम के लिए, सामाजिक परितोष के लिए ही हमे धन का व्यय करना चाहिए। किन्तु होता इसके विपरीत है। वडे-वडे दुकानदार या विज्ञापन-दाता इससे लाभ उठाते हैं। इश्तहारवाज़ी से वे जो फैशन प्रचलित कर देते है, हर अमीर को उसका गुलाम बनना पडता है। वडे घरो की औरतें इश्तहार देखकर ही अपनी रुचि बनाती है। जिस चीज़ का रिवाज चल पडा उसे खरीदना हर आदमी का धर्म हो जाता है। यह कोई नही देखता कि कौन-सा साबुन उसकी त्वचा के लिए अनुकूल होगा, जिस साबुन का रिवाज होगा वही खरीदा जाएगा। पुस्तकें पढने की फुरसत न होने पर भी अमीर लोग हज़ारो की पुस्तक खरीदकर लाइब्रेरी बना लेंगे। मोटर के नये से नये माडल खरीद लाएगे। मध्यस्थिति के लोग भी इस प्रतियोगिता की आग मे अपनी मेहनत की कमाई झोकने लगते हैं। अनुकरण करने का यह रोग जिसे लग गया वह अपने धन को सस्ता बना लेगा। इसलिए कल्याण इसीमे है कि आप केवल अपनी रुचि को देखकर ही यह निश्चय करें कि आप कौन-सी वस्तु पहले और कौन-सी वाद मे खरीदना चाहते है। यह वात आपका दिल ही जानता है कि आप अपनी वेशभूषा मे 101 रुपया फालतू लगाना पसन्द करेंगे या पर्वतयात्रा मे व्यय करना, ग्रामोफोन के नये रिकार्ड लाएगे या किसी पत्रिका के नये ग्राहक वनेंगे। अपना चुनाव स्वय कीजिए और दूसरो को उनका चुनाव करने दीजिए, उनसे ईर्ष्या न कीजिए, क्योकि यदि आप भी चाहते तो वही वस्तु ले सकते थे। आपने अपनी इच्छा से उस वस्तु का त्याग किया है।

स्वय किसीको धन से मत परखिए—जो लोग अपनी 'हैसियत' के लिए खर्च करते हैं वे अपने दम्भ व पाखण्ड के लिए करते हैं। जिस 'हैसियत' की इमारत को पैसे की लीपापोती से खडा किया जाएगा, वह आज नही तो कल गिर जाएगी। ऐसी थोथी हैसियत से वे-हैसियत होना अच्छा है। दूसरो की नज़रो मे हैसियतदार दिखाई देने के लिए धन का अपव्यय करना नितान्त मूर्खता है। आपकी इज्ज़त आपके चरित्र मे है, उस धन मे नही जिसका तोल-माप दूसरे लोग करते हैं। इस सम्वन्ध मे एक वात

याद रखिए। जिस दिन से आप दूसरो की हैसियत का माप उनके पैसे से करना बन्द कर देंगे उसी दिन से दूसरे लोग आपकी इज्जत को चादी के बट्टो मे तोलना बन्द कर देंगे।

दूसरे को तोलते हुए हम स्वयं तुल जाते हैं—जिस तराजू पर आप दूसरों को तोलते हैं उसीपर दूसरे आपको तोलते है। सच तो यह है कि दूसरो को तोलतें हुए आप स्वय तुल जाते हैं। दूसरो की अमीरी का पर्दा उठाने के साथ आपकी गरीबी पहले नगी हो जाती है। कुछ लोग अपने मित्रो से मिलने पर भी उनके अमीर-गरीब होने या काम-काज के भले-बुरे होने की जाच-पडताल शुरू कर देते हैं। वे ऐसा सहानुभूति के भाव से नही, तुलना के भाव से ही करते हैं। मित्र के मुख से उनकी मन्दी की बातें सुनकर उन्हे आह्लाद होता है। शिष्ट व्यक्ति इस पूछताछ मे नही पडते। औरतो मे भी सभ्य औरतें वही हैं जिनकी नजर सामनेवाली के जेवरो पर या साडी-बार्डरो पर नही जाती। जेवरो का चलन दूसरे की नजरो मे अमीर दिखाई देने के लिए ही हुआ है। साधारणतया जेवरो से ही औरत की कीमत मापी जाती है। अन्दर से जो जितनी हल्की होगी उतने ही भारी जेवर पहनेगी। सौंदर्य-सज्जा के लिए जो स्त्रिया हल्के, कलापूर्ण आभूषण पहनती हैं वे सुन्दर बनने की स्वाभाविक इच्छा पूरी करती हैं। किन्तु सोने की जजीरो से गला घोटने की कोशिश करनेवाली स्त्रिया प्राय नैराश्य-पीडित और प्रेम-तिरस्कृत होती हैं। सोने-चादी के झिलमिल प्रकाश मे ही वे अपने अधेरे जीवन का सहारा ढूढती हैं। उनसे ईर्ष्या नही, सहानुभूति होनी चाहिए।

आय का सदुपयोग कीजिए—आपको अपनी आमदनी मे से कितना बचाना चाहिए ? मैं कुछ भी नही कह सकता। सबकी परिस्थितिया जुदा-जुदा हैं, अमीर के बेटे को उतना बचाने की जरूरत नही जितना साधारण स्थिति के आदमी को। अपनी स्थिति को देखते हुए सबको कुछ न कुछ अवश्य बचाना चाहिए। बचत की मात्रा का निश्चय सब लोग स्वय कर सकते हैं, कोई दूसरा सलाह नही दे सकता।

बचत का सदुपयोग कैसे हो—कौन कितनी बचत करता है, यह प्रश्न उतना विचारणीय नही, जितना यह कि बचत का सदुपयोग किस तरह

किया जा सकता है। स्मरण रहे कि पहली बचत सबसे कठिन होती है। एक बार बचत करने का निश्चय करके जो कुछ बचे उसे ऐसी जगह लगा देना चाहिए जहा से उसे निकाला जा सके। उस बचत को व्यापार या सट्टे मे लगाकर बढाने की आशा रखना मृगतृष्णा है। मैं मध्यस्थिति के ऐसे सैकडो व्यक्तियो को जानता हू जो अपनी बचत को सट्टा-बाज़ार मे लगा देते है, उनका यह मुहावरा कि 'माया को माया मिले कर-कर लम्बे हाथ' उनकी बचत के थोडे-से रुपयो पर चरितार्थ नही होता। बचत की छोटी-सी रकम उनके लिए भले बडी महत्वपूर्ण माया हो, मायावालो के सामने उसकी कोई कीमत नही।

बचत का उपयोग परिवार की सुरक्षा मे होना चाहिए। सुरक्षा का साधन यह नही है कि बैंक की कापी मे सख्यावृद्धि हो जाए। सच्ची सुरक्षा बच्चो को ऊची शिक्षा देने और उन्हे योग्य बनाने मे है। बच्चो को स्वावलम्बी, साहसी तथा दृढव्रती बनाने मे खर्च करना, सरकारी दस्तावेज खरीदने मे रकम खर्च करने से अधिक सुरक्षित है। सब दानो से बडा दान ब्रह्मदान[1], ज्ञानदान है। वसीयत मे दिया हुआ धन बहुत बार बच्चो को प्रमादी बना देता है। सच्चा धन शिक्षा ही है। जो कुछ है सब बच्चो की शिक्षा पर खर्च कर दीजिए। वसीयत मे देने के लिए एक पाई भी न बचे तो परवाह नही, किंतु बच्चो की शिक्षा पूरी होनी चाहिए। बचत का सर्वश्रेष्ठ उपयोग बच्चो को शिक्षा देने मे खर्च करना है। शिक्षा अक्षराभ्यास का नाम नही है। शिक्षा वह है जो बच्चे के चरित्र को सबल बनाए, जो उसे जीवन-सग्राम मे सफलता से जूझना सिखाए। यह चरित्र ही आत्मबल है, जो बुद्धिबल से भी ऊंचा है।

16
ईश्वर-विश्वास

श्रद्धा और चरित्र—प्रेम जब शारीरिक क्षेत्र से ऊपर आत्मिक क्षेत्र

1. सर्वेषामेव दानाना ब्रह्मदान विशिष्यते।

मे आ जाता है तो उसे श्रद्धा कहते है। तर्क से या बुद्धि से जब हम ईश्वर की अनन्त शक्तियो की थाह नही ले पाते तो अपने मापकयन्त्र को समुद्र में फेंक देते है, लहरो मे अपनी नाव को छोड देते हैं, हवा का रुख अपनी इच्छा से जिधर चाहे ले जाता है। तव हम अनुभव करते है कि हम व्यर्थ ही इन लहरो से लड रहे थे। ये लहरें हमे झुलाती है, कभी ऊपर, कभी नीचे। हिलोरो मे जो आनन्द हमे आता है वही जीवन का आनन्द है। तव हमे याद आता है कि समुद्र की छाती चीरकर पार जाने का हम व्यर्थ ही प्रयत्न कर रहे थे।

श्रद्धामय जीवन व्यतीत करने वाले को तर्क के चप्पुओ का प्रयास व्यर्थ लगने लगता है। जिस नाव के चप्पू ईश्वर के हाथ मे हो उसे किसका भय ? ईश्वर उस नाव को पार करता है। भय तो उसीको होता है जो अपने कमजोर हाथो पर भरोसा रखता हो। सर्वशक्तिमान का आचल पकडते ही मनुष्य निर्भय हो जाता है। उसके स्पर्श से ही मनुष्य मे अजेय बल आ जाता है। उसके व्यक्तित्व मे ईश्वर का प्रकाश भर जाता है। उसका चरित्र सब दिव्य गुणो से पूर्ण हो जाता है। इसलिए चरित्र-निर्माण की कोई भी योजना ईश्वर-विश्वास के विना पूरी नही हो सकती। एक ओर दुनिया की सब ताकतें हो और दूसरी ओर ईश्वर की कृपा हो तो दूसरा पक्ष ही विजयी होगा। कुछ लोग इसे दैव भी कहते हैं। दैव कहिए या भाग्य, अभिप्राय ईश्वर-कृपा से ही है। उसकी कृपा पर अटल विश्वास रखना ही श्रद्धा है।

भगवान को जीवन-रथ का सारथि बनाओ—भगवान कृष्ण के पास कौरव और पाडव जब एकसाथ ही पहुचे तो भगवान ने उन दोनो के सामने यह चुनाव रख दिया कि एक पक्ष मे उनकी समस्त शस्त्र-सज्जित सेना होगी, दूसरे पक्ष मे वे निरस्त्र रहेगे। दुर्योधन ने उनकी सज्जित सेना को लेना पसन्द किया, अकेले कृष्ण पाडवो के पक्ष मे आए। इतिहास साक्षी है कि दुर्योधन ने भूल की थी। अकेले भगवान अपनी समस्त सेना से अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुए। बिना लडे केवल अर्जुन के रथ के सारथी बनकर ही उन्होंने पाण्डवो को जिता दिया।

'दुर्योधन ने भूल की थी।' आज हम सब यही कहते है, किन्तु हम भी

अपने जीवन मे पग-पग पर यही भूल करते है। ईश्वर की उपेक्षा करके हम समारी शक्तियो के सैन्य-वल पर जीवन मे विजय पाना चाहते हैं किंतु विजय उन्हीको मिलती है जो सबको छोड केवल ईश्वर को अपने रथ का सारथी वनाते हैं।

जो विराट ईश्वर विश्व के असीम-अनन्त आकाश मे भी पूरा नही समा पाता, उससे भी बडा है वह जो हमारे अगुष्ठ-मात्र हृदय मे सिमट-कर वैठा हैं। वह अपनी इच्छा से हमारी आत्मा मे आत्मरूप होकर प्रविष्ट हुआ है।[1] वही हमारे अन्धकारमय हृदय की ज्योति है,[2] फिर भी हम उसको अपने पक्ष मे न लेकर समारी उपकरणो पर भरोसा करने लगते हैं। यह भूल हमे जीवन मे परास्त कर देती है। कदम-कदम पर हम ठोकरें खाते हैं। छोटी-छोटी सफलता हमारे मन को झकझोर डालती है। अपने मन से हम हवाई किले वनाते है। स्वप्नो का ताना-वाना वुनते हैं। कल्पना के पखो पर वैठकर दुनिया के ओर-छोर को छूने के लिए उडान भरते है, किन्तु कल्पनाओ का यह कुहरा जीवन की सचाइयो के प्रकाश मे वहुत जल्दी छिन्न-भिन्न हो जाता है। स्वप्नो का ताना-वाना हवा के एक ही झोके मे टूट जाता है। कारण, कि अपने स्वप्नो और अपनी कल्पनाओ का महल वनाने से पहले हम इन स्वप्नो के मालिक का आशीर्वाद लेना भूल जाते है। हम ससारी शक्तियो के भरोसे अपना महल खडा करने का निश्चय करते हैं, किन्तु उन शक्तियो के स्वामी की चरण-धूलि लेना भूल जाते हैं। चरण-धूलि क्यो? वह तो हमारे हृदय मे ही वैठा है। उसका नाम लेना अलग, उसका स्मरण तक करना भूल जाते हैं।

भगवान ने अर्जुन को आदेश दिया था, "तू मेरा नाम लेकर युद्ध मे जूझ जा",[3] यही आदेश ईश्वर का वह आदेश है जो वह मनुष्यमात्र को देता है। ईश्वर का नाम लेकर जीवन-युद्ध मे जूझने वालो को कभी

---

1 आत्मनात्मानमभिसविवेश तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्।

2 ज्योतिरात्मनि नान्यत्र सर्वजन्तुषु तत्सम। —महाभारत

3 तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

निराशा नही होती, हार नही होती ।[1] सुख-दु ख, लाभालाभ, जय-पराजय सबके लिए उनका ईश्वर ही जिम्मेदार होता है। इस युद्ध के पाप-पुण्य मे भी वे लिप्त नही होते, न वे सुख मे फूलकर कुप्पा होते हैं और न ही दु ख मे डूबकर निश्चेष्ट हो जाते हैं।[2] उनकी हर सास से यह आवाज निकलती है, "ईश्वर ! तेरी इच्छा पूर्ण हो !"

'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो !' जीवन का यही गुरु-मन्त्र है—ईसा-मसीह के हाथो मे जब मेख ठोकी जा रही थी तो हथौडे की हर चोट पर उनके मुख से आह निकलने के स्थान पर यही शब्द निकले थे, "ईश्वर, तेरी इच्छा पूर्ण हो !" हत्यारे के हाथो से विष खाकर स्वामी दयानन्द ने प्राण छोडते हुए यही शब्द कहे थे, "ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो !" छाती पर गोली खाकर अन्तिम श्वास के साथ महात्मा गाधी के मुख से यही शब्द निकला था, "हे राम ! तेरी इच्छा पूर्ण हो !"

मृत्यु के समय हम राम की गोद मे विश्राम लेना चाहते हैं, जीवन मे भी यदि हम अपने को राम के हाथ सौप सकें तो हमारा जीवन कितना ऊचा हो जाए। भगवान तो कहते हैं कि मुझे ही सब कर्म-अकर्म अर्पित कर दे। मेरा भक्त बन जा।[3] मैं तेरे सारे दुखो को दूर कर दूगा।[4] किन्तु हम अहकारवश अपने निर्बल कन्धो पर ही अपना भार उठाए फिरते है। अपना ही नही, हम तो दुनिया-भर का भार उठाने का दम भरते है। अपनी ही चिन्ता से हमे अवकाश नही मिलता, विश्व-भर की चिन्ता का ढोग करके हम आत्मचिन्तन के स्वार्थमूलक पाप को छिपाने का यत्न करते हैं।

ईश्वर के हाथ जीवन की बागडोर देकर जो निश्चिन्त हो जाते हैं वे ईश्वर के मार्ग पर आगे ही आगे बढते जाते हैं। अर्जुन ने अपना रथ भगवान के हाथ मे दे दिया था। हम भी अपना रथ भगवान के हाथ देकर

---

1 कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति ।

2 सुखदु खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥—गीता

3 मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु ।

4 अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ।—गीता

जीवन की यात्रा पूरी कर सकते हैं। यह यात्रा विजय की यात्रा है। हम ईश्वर के वरद पुत्र अपने पिता के नेतृत्व में आगे बढ रहे हैं। हमे भय और चिन्ता क्या ? हमारी प्रकृति, हमारा स्वभाव, हमारा चरित्र वही हैं जो ईश्वर का चरित्र है। ज्योतिर्मय भगवान के रास्ते पर चलते हुए हम अन्धकार मे भटक जाए तो दोष किसका ? परम शक्ति के पुत्र होते हुए भी हम अपने को नाचीज, पतित बना लें तो हमसे बडा मूर्ख कौन होगा ?

आशा के अगणित दीप पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं—हमारा चरित्र-निर्माण वह स्वय करता है। पिता अपनी आत्मा से अपने पुत्र का चरित्र बनाता है। वह स्वय हमारी आत्मा बनकर हमारे अन्दर रहता है।[1] उसके सबल हाथो मे आशा के अगणित दीप जल रहे है, उन दीपो मे अटल विश्वास की लौ जल रही है। प्रलय भी उन सदा जलते दीपो को नही बुझा सकती।

ईश्वर-विश्वासी को दुश्चरित्र होने का भय कहा ? अस्थिर भोगो की आग मे वही जलता है, जिसे स्थिर आनन्द की आशा नही होती, जो यह समझता हैं कि जवानी आज है, कल नही, जिसे यह विश्वास नही होता कि आज का डुवा सूरज कल निकलेगा। जो ईश्वर की अमरता पर विश्वास रखेगा वह अपनी अमरता पर, अपने यौवन की अमरता पर भी आस्था रखेगा। वह अपनी भोगशक्ति को मर्यादा मे रखकर अक्षय यौवन का आनन्द उठाएगा। भविष्य पर विश्वास न रखनेवाला सशयात्मा ही दुश्चरित्र होता है। वह बुझने से पहले टिमटिमाते दीपक की तरह अन्तिम वार भभककर बुझ जाता है। इस क्षणिक भभक को ही वह भोग का आनन्द समझता हैं।

सत्य ही ईश्वर है, ईश्वर-विश्वासी ही सत्यनिष्ठ होता है—ईश्वर-विश्वासी को सत्य पर अटल रहने के उपदेशो की आवश्यकता नही। ईश्वर-प्रेमी स्वत सत्यनिष्ठ हो जाता है। ईश्वर के नियम त्रिकाल मे सत्य हैं। उन सत्य नियमो पर ही पृथ्वी और आकाश स्थित हैं। सत्य

---

1 जीवो ब्रह्मैव नापर ।

ईश्वर का प्रथम गुण है। तभी उसे सच्चि पास तक भी मनुष्य की यह भूख
है। ईश्वर की निष्ठा ही सत्य निष्ठा है। भरा होता है। छल-कपट से
मनुष्य स्वभाव से सत्यनिष्ठ होता है। भय, न उसे कोई कहता है, न
वश वह धूर्त और छली व कपटी बन जाता है। लिए सत्य-शोधको को
काम, क्रोध आदि पर विजय पा लेता है। उसके मन-व ना है।
हो जाते हैं। निर्भय व्यक्ति को असत्य के झूठे परदे मे की जाच किया
छिपाने की जरूरत नही रहती। मन के मानसरोवर मे ईश्व न जीवन मे
तभी प्रतिविम्बित होती है जब उसका जल दर्पण की तरह नि षो को
ठहरे हुए पानी की तरह स्थिर हो। पूर्ण

कर्म मे अकर्म और अकर्म मे कर्म का रहस्य—श्रद्धावान को प्रशान्त-रहने के लिए उपदेश की आवश्यकता नही। ईश्वर का प्रेम उसके मन को इतना तृप्त कर देता है कि आत्मा की तृप्ति के लिए उसे वाह्य उपकरणो का आश्रय नही लेना पडता। जिस तरह नदी का जल स्वय सागर की ओर आता है, उसी तरह ससार के भोग स्वय ईश्वर-प्रेम से परितृप्त व्यक्ति मे प्रवेश करते हैं। सब कर्मों को ईश्वर-अर्पित करने के बाद फला-फल की चिन्ता से शून्य मनुष्य का मन कभी अशान्त होता ही नही। वह स्वय सयत और जितात्मा बन जाता है। वह कर्म मे अकर्म और अकर्म मे कर्म देखता है। अर्थात् अपने कर्मों मे भी वह स्वय अकर्मण्य ही रहता है। स्वय कुछ नही करता।[1] उसका भगवान ही उसमे सब कर्म करवाता है। कार्यों के श्रेयाश्रय भगवान के ही जिम्मे हो जाते हैं। इसी तरह उसके निष्कर्म मे भी भगवान का ही कर्म निहित होता है। वह स्वय निष्कर्म मालूम होता है, किन्तु उस निष्कर्मण्यता मे भी भगवान का ही कर्म होता है, सर्वथा निष्कर्म तो पुरुष होता ही नही। प्रसुप्ति मे भी उसके हृदय का स्पन्दन चालू रहता है और नाडी की गति एक क्षण के लिए भी नही रुकती। ईश्वर-प्रेमी के अन्य कार्य भी हृदय के प्रकम्पन की तरह सदा ईश्वर-प्रेरणा से स्वय होते रहते है। अहवादी के कर्म-अकर्म दोनो ही भीषण अशान्ति के सूचक होते हैं। अपने कर्म करते हुए वह इतना अह-

1 कर्मण्यकर्मण पश्येद कर्मणि च कर्मण ।

परख सकते हैं।

विनय की आत्म-परीक्षा—यदि आपको यह परखना है कि आप विनीत, सज्जन और सुशील हैं या नही, तो आप अपने से निम्नलिखित पाच प्रश्न पूछिए :

प्रश्न 1—आप घर या वाहर किसीकी भी सेवा प्राप्त करके कृतज्ञता-प्रकाश के लिए धन्यवाद कहते हैं या नही ?

कोई भी रिश्ता मनुष्य को मनुष्य का गुलाम नही वनाता। पति होने से ही पुरुष को स्त्री के हाथो पकवान खाने, वाहर से आकर पखा करवाने या भोगेच्छा की तृप्ति का अधिकार नही मिल जाता। स्त्री को भी पत्नी होने के नाते से गहने वनवाने, विलास की वस्तुए खरीदने का अधिकार नही मिल जाता। यह अधिकार-भावना ही मनुष्य को कृतज्ञता-प्रकाश से रोकती है। इस अधिकार का दुरुपयोग वहुत होता है। स्वार्थी पिता उम्र-भर अपने वच्चो से हुक्का भरवाते और जूते मे पालिश करवाते है और स्वार्थी पुत्र वृद्ध पिता से घर की पहरेदारी और चाकरी करवाते हैं। प्रत्येक सेवा के लिए कृतज्ञता-प्रकाश करनेवाला व्यक्ति ही इस स्वार्थ-भावना से वच सकता है। आप विनीत हैं इसका प्रमाण यही है कि आप सवके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं, किसीसे अधिकारवश काम नही कराते।

प्रश्न 2—आप अपनी भावनाओ को प्रकट करने के समय अन्य कुटुम्वियो की भावनाओ को तो नही कुचलते ? उनकी भावनाओ का भी ध्यान रखते हैं या नही ?

अपने को विनय की देवी माननेवाली मा भी प्रेम के उद्वेग मे वच्चे को अपनी छाती से इतनी जोर से चिपटाती है कि उसका दम घुटने लगता है। प्यार का अत्याचार अन्य सव अत्याचारो से वडा है। पति का प्रेम जव अतिशय स्त्री-सभोग मे प्रकट होता है तव स्त्री की भावनाए वडी निर्दयता से कुचली जाती हैं। मा-वाप भी प्रेम के नाम पर वच्चो की भावनाओ को प्राय पैरो तले रौंदते रहते है। वह प्रेम नही, आत्मतुष्टि है, मन की भूख मिटाना है। यह दूसरे की भावनाओ के आगे सिर झुकाना सिखाता है।

जिस प्रेम मे विनय नही, दूसरे की भावना का सम्मान नही, वह हमारी विनाशकारी प्रवृत्तियो को उत्तेजित करता है। तभी हम प्राय अपनी सबसे अधिक प्रिय वस्तु को ही अपने हाथ से नष्ट कर देते हैं। आप विनयशील होंगे तो पत्नी की भावनाओ का उतना ही सम्मान करेंगे जितना आप अपने अफसर की पत्नी का या अपने मित्र की पत्नी का करेंगे।

मनुष्य के विनय की परीक्षा अपने घर मे ही होती है। हम होटल मे सड़े-बूसे खाने को बडी शान्ति से खाते हैं और परोसनेवाले को 'टिप' भी दे आते हैं किन्तु घर मे रोटी जरा-सी ठण्डी हो जाय तो पतिदेव थाली उठाकर बाहर फेंक देते हैं। मेरे एक मित्र हैं, बीमा-एजेन्ट। सुन्दर गोल चेहरा, गोरा रग, सुडौल शरीर। हसते हैं तो फूल झडते हैं। रास्ते मे मिल जाए तो जमीन तक झुककर प्रणाम करते हैं। आप विनय, सज्जनता और शिष्टता के मूर्तिमान अवतार है। किन्तु, घर मे वही हसता चेहरा रौद्र रूप मे बदल जाता है। बच्चों को बेंतो से इतना पीटते हैं कि खलडी उघड जाती है। छत की कडियो के साथ रस्सी बाधकर औरतो को उलटा लटका देना और तीन-तीन दिन तक भूखे रखकर तडपाना उनके पारिवारिक जीवन का नित्यकर्म-सा बन गया है। वस्तुत उनकी विनयशीलता केवल व्यापारिक चेष्टा होती है। हमारा होटल मे विनम्र भाव से सडी-बुसी चीज खाते जाना भी विनय नही, व्यापारिक शिष्टता है। यह विनय ग्राहक के सामने दूकानदार का, मालिक के सामने नौकर का स्वार्थपूर्ण झूठा नाटक है। यह विनय मनुष्य के चरित्र का अग नही बन सकती।

विनय के उत्तर मे विनय देने मे भी चरित्र की परीक्षा नही होती। सच्ची परीक्षा वही होती है जहा दुर्विनय का उत्तर विनय से दिया जाए। लाखो मे एक माता-पिता ऐसी परीक्षा मे पूरे उतरेंगे। बच्चे के दुर्विनीत होते ही उसे घर से निकाल देना या दण्ड के भय से उसकी प्रवृत्तियो को दबा देना ही हमारे माता-पिता को आता है। वे भूल जाते हैं कि उनका दुर्विनय ही उनके बच्चे मे प्रतिबिम्बित होता है। बच्चे को अकारण डाटने-फटकारने अथवा लापरवाही के साथ अनापशनाप कहने से ही बच्चा भी लापरवाह और ढीठ बन जाता है। आप बच्चे के साथ विनय

का व्यवहार करेंगे तो वह भी विनयशील रहेगा। उसे सुधारिए। वह तो आपकी छाया है।

प्रश्न 3—आत्मनिरीक्षण करते हुए तीसरा प्रश्न आप अपने से यह पूछिए कि आपकी वेशभूषा, वातचीत या आपके नित्य के व्यवहार मे दुर्विनय की झलक तो नही है ?

दूसरो की आखो मे चुभनेवाली, सबसे अलहदा ढग की चमक-दमक वाली पोशाक पहनना उतना ही दुर्विनय है जितना दूसरे को विषवुझी वात कहकर जलाना। वेशभूषा मनुष्य के चरित्र का चित्रण करती है। गहरे रग के आकर्षक कपडे मनुष्य के उथलेपन को प्रकट करते हैं। स्त्रियो की शालीनता ही उनके वस्त्रो से प्रकट नही होती, पुरुषो का चरित्र भी पुरुष के वस्त्रो से प्रकट होता है। वातचीत मे हम वहुत दुर्विनयी हो जाते हैं। चुभते हुए व्यग्य, ज़हरीले कटाक्ष और अपने पक्ष के समर्थन मे मिथ्या दुराग्रह हमे कुछ देर के लिए दूसरो की नज़र मे महत्वपूर्ण व्यक्ति वना देते हैं। मित्र-मण्डली का मनोरजन भी हो जाता है। किन्तु यह अभिनय हमारे व्यक्तित्व का नाश कर देता है। हमे दिन मे एक वार अवश्य यह चितन कर लेना चाहिए कि हमारी वेशभूषा और वातचीत हमारे विनय का प्रतिनिधित्व करते हैं या नही ? यदि नही तो आप सर्वांश मे विनीत नही हैं। आपको पूरा विनीत वनने के लिए वहुत अभ्यास की आवश्यकता है।

प्रश्न 4—अपने पडौसियो के मुकावले मे अमीर दिखने के लिए आप विशेष चेष्टा तो नही करते ? यह प्रश्न भी आपको विनय की परीक्षा करते हुए करना चाहिए।

हमारे पडौस मे रहनेवाले एक ठेकेदार ने युद्ध-काल मे लाखो रुपये वनाए हैं। अपनी अमीरी का प्रदर्शन करने के लिए उन्होंने मकान के अपने हिस्सेवाली दीवारो पर विशेष नीला रोगन करवा दिया है। वाकी इमारत पर पहले का मटमैला रग ही है, जो कई वरसातो से धुल-धुलाकर विलकुल मिट्टी का रग हो चुका है। उसके नीले रग ने मकान को चितकवरा वना दिया है। वह वहुत ही भद्दा-वेतुका मालूम होता है, किन्तु ठेकेदार जी की अमीरी का प्रदर्शन अवश्य करता है। हम विनीत वनना

चाहते हैं तो इन प्रलोभनो मे बहने से हमे सावधान रहना होगा।

प्रश्न 5—दूसरो को पीछे धकेलकर आगे बढना, दूसरे की बात काट-कर बोलना, भेंट का निश्चित समय निर्धारित करके अन्य आवश्यक काम मे व्यस्त होने का बहाना बनाते हुए निश्चित समय पर अनुपस्थित रहना अथवा जान-बूझकर दूसरो को घण्टो इन्तजार करवाना, ये सब चेष्टाए अविनय की निशानिया हैं। आत्म-निरीक्षण द्वारा हमे यह परीक्षा करते रहना चाहिए कि कही अनजाने मे भी हम ऐसी चेष्टाए तो नही कर रहे ?

आपको अपने से इन प्रश्नो का उत्तर भी मागना चाहिए कि आप गाडी मे किसी स्त्री को या वृद्ध व्यक्ति को जगह न देकर स्वय बैठे तो नही रहे, किसी आगन्तुक के घर आने पर आपने उपेक्षावश उसका तिरस्कार तो नही किया ? उसके गरीबी के कपडे को देखकर भवें तो नही चढाई, रास्ते पर तेजी से जाते हुए आपके कन्धो से टकराकर कोई राहगीर गिर तो नही पडा ? मोटर चलाना दुर्विनय नही है, किन्तु पैदल चलनेवालो को रास्ता पार करने का मौका ही न देना दुर्विनय है। मेरे एक मित्र ने नई-नई मोटर ली है। वे मोटर चलाते हुए उचक-उचककर देखा करते हैं कि सडक पर खडे लोग उनका दबदबा मान रहे हैं या नही। सड़क के किनारे कही क्यू की लम्बी कतार लगी हो तो वे मोटर का 'भोपू' बजा-बजाकर सबका ध्यान अपनी ओर खीच लेते हैं। यह दुर्विनय है। कुछ रूपवती स्त्रिया भी इस दुर्विनय की अपराधिनी होती हैं। शृगार के लिए गालो व होठो पर हल्की लाली लगाना बुरा नही है, परन्तु गहरे लाल रगकर कमजोर चरित्रवाले नौजवानो पर वासना की चिनगारिया फेंकते चलना पाप है, दुर्विनय है।

सत्यनिष्ठा की परीक्षा भी चरित्र-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण है—सचाई पर स्थिर रहना चरित्र-बल की निशानी है, यह बात सभी जानते हैं, किन्तु अपने दैनिक काम-काज मे भी हम सचाई पर दृढ नही रहते। कहने को हम अपने को पक्के सत्यनिष्ठ कहते हैं। किन्तु जाने-अनजाने दिन मे कई बार हम अपने ईमान को बेचने मे जरा भी नही हिचकिचाते। ईमानदारी से किया आत्म-निरीक्षण ही हमे इस अध पतन से सावधान कर सकता है।

प्रत्येक सत्यनिष्ठ को अपने से यह प्रश्न करना चाहिए कि उसने अपने

ईमान को किसी भी मूल्य मे बेचने का इरादा तो नही किया ? मूल्य की वात इस प्रश्न मे बडी महत्त्वपूर्ण है। थोडी कीमत पर ईमानदारी वेचने मे ज़रूर लोग सकोच करते हैं—लेकिन ऊची कीमत का सौदा पटते ही उसे वाज़ी पर लगा देते हैं—मानो ईमान नाम की चीज उनके दिल मे थी ही नही !

एक दिन मेरे एक प्रश्न का उत्तर देते हुए मेरे चपरासी ने यह कहा कि, "साहब, मैं इतना कमीन नही हू कि 15 रुपये पर बेईमान हो जाऊ।" अपने भोलेपन मे उसने अपने ईमान का खोखलापन ज़ाहिर कर दिया। मैंने उससे कहा, "15 रुपये पर वेईमान नही होगे, मैंने मान लिया; परन्तु 1500 रुपये पर तो ईमान वेच ही दोगे न !" वह वडा शर्मिन्दा हुआ। कहना उसे यह चाहिए था कि वह किसी भी कीमत पर सचाई को नही छोडेगा। किन्तु दिल की वात को छिपाने मे वह पका हुआ धूर्त नही था, इसलिए सच्ची वात कह गया।

सच बात तो यह है कि जो आज 1500 रुपये पर ईमान बेचता है, कल वह 15 दमडी पर भी वेचेगा। डाके-चोरी से पैसा कमाने की आदत पडने पर चोर एक चवन्नी के लिए भी खून कर देता है। और जो चोर नही होगा वह कुबेर के खज़ाने को पाने के लिए भी चोरी नही करेगा।

ईमान केवल पैसे के मूल्य पर नही वेचा जाता, अन्य मूल्यो पर भी वेचा जाता है। आत्म-निरीक्षण के समय हमे उन सबका ध्यान रखना चाहिए। मेरे एक मित्र ने अपने नौकर पर चोरी का दोष लगाने के लिए उसकी जेब मे 5 पौंड टाइप भर दिया और मुझे इस चोरी का गवाह वनने को कहा। अपने मित्र की मित्रता को सुरक्षित रखने के लिए यदि मैं अपना ईमान बेच देता तो एक निर्दोष व्यक्ति को तीन महीने का कारावास हो जाता। इसी तरह के अवसर हमारे सामने नित्यप्रति आते हैं। अपनी नौकरी को सुरक्षित रखने के लिए जो नौकर मालिक की झूठी हा मे हा मिलाता है, वह भी चादी के कुछ ठीकरो के लिए ईमान वेचता है। सम्पादक की कुर्सी पर वैठकर जो सम्पादक अपनी आत्मा के विरुद्ध लिखकर मालिक की जी-हज़ूरी करता है, वह भी वेईमान है। जो व्यापारी नियत मूल्य से अधिक मागता है, वह उस जेवकतरे के ही बराबर बेईमान है जो

कैंची से राह चलनेवाले आदमी की जेब काटता है। सगठित बेईमानी को व्यापारिक प्रतिभा, व्यवस्थित धूर्तता को राजनीतिकता और सामूहिक हत्याओ को राष्ट्रीय युद्ध कहने की प्रथा केवल अन्यो को धोखे मे डालने के लिए है। बेईमानी व्यक्तिगत हो या सगठित, बेईमानी ही रहेगी। आधुनिक समाज की नीव ईमान के खून से सीची जा रही है। 'प्रगति के प्रत्येक क्षेत्र मे वही आगे बढ पाता है जो ईमानदारी का गला सफाई से घोट सके। सब क्षेत्रो मे उन्नति के लिए हाथ की सफाई और जादुई चमत्कार चाहिए। दुनिया की आखो मे धूल झोकनेवाला ही आज दुनिया का सरदार बन सकता है। हमारा ईमान बडा सस्ता हो गया है। नीलाम मे उसका कोई गाहक भी नही मिलता। उसकी चार पैसा कीमत देनेवाले भी कम है। चार पैसे की भी बचत के लिए हम अपनी सत्यनिष्ठा को ताक पर रख देते हैं। दूकानदार चार आने की चीज को पाच मे बेचकर व्यापारी बन जाता है और हम चार पैसा 'बिक्री-कर' से बचने के लिए रसीद लेना छोड देते हैं। चोरी का माल जानते हुए भी लेते हैं और इस तरह चोर को प्रोत्साहन देते हैं।

एकान्त मे आत्म-निरीक्षण करने पर हम यह पाएगे कि हमारे जीवन के 70 प्रतिशत व्यवहार असत्य पर आश्रित हैं, फिर भी हम अपने चरित्र पर गर्व करते हैं। अपनी नजरो मे हम बेईमान साबित होकर भी दूसरो के सामने सच्चे बनने के लिए सैकडो तरह के पाखड करते हैं। हमारा सम्पूर्ण जीवन एक बृहत् पाखड, अजीब गोरखधधा बन जाता है।

क्या आप विश्वासभाजन हैं—'आप विश्वासपात्र हैं या नही'—यह प्रश्न भी आत्म-निरीक्षण के सिलसिले मे बहुत महत्त्व का है। विश्वासपात्र वह है जिसपर भरोसा किया जा सके।

मनुष्य को यह जानकर बेहद खुशी होती है और सच्चा सन्तोष मिलता है कि उसपर दूसरे लोग भरोसा करते हैं। सभी मनुष्य सामाजिक जीव हैं, एक ही प्रथमजा मनुष्य-जाति के वशज हैं। उन सबमे ही वह समानशीलता है कि सभी किसी के विश्वासभाजन बनने मे बडा सन्तोषपूर्ण अभिमान अनुभव करते है।

जो व्यक्ति विश्वासभाजन नही बनता, वह दीन-हीन बनकर ही

जिन्दगी काटता है। सच तो यह है कि जिम्मेदारी और सफलता दोनो से वह बचना चाहता है। विश्वास-योग्य व्यक्ति जिम्मेदारी निभाता हुआ चलता है। विश्वासपात्रता स्वय जिम्मेदारी सिखा देती है। दूसरे लोग हम पर भरोसा कर सकें, ऐसी अद्वितीय श्रद्धा हमारे मन मे भी पैदा होनी चाहिए।

विश्वासपात्र होने की पहली शर्त शिक्षा है। शिक्षा जहा विनय सिखाती है, वह वहा कष्टो को सहने की बुद्धि भी देती है। ज्ञान से आत्मविश्वास बढता है। और इसका उपयोग निरन्तर अभ्यास से ही हो सकता है।

दुनिया मे ऐसे प्रकाण्ड बुद्धिमान् बहुत हैं जिनपर विश्वास नही किया जा सकता। किन्तु दुनिया मे एक भी ऐसा चरित्रवान् नही मिलेगा जिसका विश्वास न किया जा सके।

विश्वासपात्र की परख आत्मनिरीक्षण से ही हो सकती है। अपने सम्बन्ध मे दूसरो की राय सुनने से भी मनुष्य अपने आत्मविश्वास की परीक्षा कर सकता है। अपने प्रति दूसरो का रुख देखने से ही हम अपना चरित्र माप सकते हैं। यदि दूसरे लोग हमसे कभी कतराकर निकल जाते हैं, यदि वे हमे कोई भी आवश्यक कार्य सुपुर्द नही करते, यदि हमारी प्रतिज्ञाओं पर लोग कान नही देते तो समझ लीजिए कि लोग हमपर भरोसा नही करते। आत्मनिरीक्षण द्वारा पता लगाइए कि कही ऐसा तो नहीं होता।

आपको अपनी प्रतिज्ञा करने की मनोवृत्ति मे सुधार करना होगा। अच्छा यह है कि आप अपनी महत्त्वाकाक्षा उतने ही दायरे मे कैद रखें जितने का नियन्त्रण भली भाति हो सके। आज यदि आप किसी कार्य मे असमर्थ हैं तो अपनी अक्षमता प्रकट कर दीजिए। छोटे काम को खुशी से करना आपको बडे काम को बेढगी रीति से सम्पन्न करने की अपेक्षा अधिक विश्वासभाजन बनाता है।

आत्मविश्वास की परीक्षा के 16 प्रश्न—आत्मविश्वास की मर्यादित मात्रा जीवन के बहुमूल्य रत्नो मे से एक है। इसके बिना हम किसी कार्य मे सफलता नही पा सकते। इसलिए हमे अपने जीवन मे आत्मविश्वास की मात्रा की परीक्षा आत्म-निरीक्षण द्वारा प्रतिदिन करते रहना चाहिए। यह

काम कठिन नही है। दूसरो के सामने हम अपने हृदय की कायरता को छिपाने के लिए कुछ देर आत्मविश्वास होने के ढोग कर सकते है किन्तु अपने को धोखा तो नही दे सकते।

आत्मविश्वास की परीक्षा के लिए आप अपने से निम्न प्रश्न पूछिए :

1 बडे आदमियो से भेंट करते हुए आपको सकोच तो नही होता ?
2 सामाजिक मेलजोल मे आपकी दिलचस्पी तो कम नही है ?
3 जिम्मेदारी के कामो का आप पूरा स्वागत तो करते हैं ?
4 सामान्य व्यवहार मे आपको बेचैनी-सी तो नही होती है ? सहज सरलता से आप सबसे मिल-जुल लेते हैं ?
5 अपनी बातचीत मे हास्य-विनोद मिलाने का कौशल आपमे है ?
6, भय व शोक मे आप डूब तो नही जाते ?
7 अपने निश्चयो की सत्यता पर आप स्वय सन्देहशील तो नही रहते ?
8 आपकी बुद्धि व्यवसायात्मक है या नही ?
9 बातचीत मे आप धाराप्रवाह बोल सकते हैं या नही ?
10 व्याख्यान देते हुए किसी टोकनेवाले को मुहतोड उत्तर आप दे सकते हैं ?
11 किसी अपरिचित स्त्री से मिलने पर आपका मुह शर्म से तमतमा तो नही जाता ?
12 आपके मन मे हीनता के भाव तो यदा-कदा नही उठते ?
13 दूसरो के अच्छे कामो को मुक्त रूप से सराहने का साहस आपमे है ?
14 कोई नया काम शुरू करने का साहस आप कर सकते हैं ?
15 किसी अपने से कमजोर पर हमला करने की प्रवृत्ति तो आपमे नही ?
16 कभी एकान्त मे, सर्वथा मुक्त रहना पडे तो आप रह सकते है ?

इन 16 प्रश्नों का उत्तर यदि आत्मविश्वास के पक्ष मे होगा तो आप निश्चय ही आत्मविश्वासी हैं। इसी तरह के अन्य प्रश्न भी आप अपने से पूछ सकते हैं। यह परीक्षा आपको चरित्र-निर्माण कार्य मे बहुत सहायक सिद्ध होगी।

18

हमारे व्यवहार हमारे चरित्र का प्रदर्शन करते हैं

चरित्र की अभिव्यक्तियो का सुधार—मनुष्य का चरित्र उसके दैनिक व्यवहार मे व्यक्त होता है। उसके रहन-सहन के प्रकार, उसकी बातचीत के ढग, हसने-रोने की रीति, उसके पारिवारिक जीवन आदि से मनुष्य के चरित्र को अभिव्यक्ति मिलती है। इन अभिव्यक्तियो को चरित्र नही कह सकते और न ही इनके अलग-अलग सुधार से मनुष्य का सम्पूर्ण चरित्र बनता है। ये तो केवल आन्तरिक चरित्र के बाह्य लक्षण-मात्र है। जैसे शरीर का आन्तरिक रोग बाह्य लक्षणो मे प्रकट होता है, उसी तरह मनुष्य का विकृत चरित्र, विकृत हसी, विकृत पारिवारिक जीवन और विकृत वार्तालाप मे प्रकट होता है। फिर भी, जिस तरह रोग के बाह्य चिह्नो का उपचार करना भी रोग के असली इलाज मे सहायक होता है, उसी तरह चरित्र के विकृत लक्षणो का इलाज भी मानसिक रोग के उपशमन मे सहायक हो सकता है। हमे इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए।

अतडियो की खराबी से पैदा ज्वर का इलाज भी उतना ही आवश्यक है जितना अतडियो का इलाज करना। ज्वर स्वय मे कोई रोग नही है, वह आन्तरिक विकार का बाह्य चिह्न ही है। फिर भी कोई वैद्य ऐसा नही है जो ज्वर की उपेक्षा करे। ज्वर का उपचार भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना उसके मूल कारण का इलाज।

हास्य—मानसिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति—हास्य स्वय में चरित्र का अग नही है। वह केवल हमारी मानसिक प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है। वास्तविक चरित्र है मानसिक प्रसन्नता। किन्तु हास्य की शैली मे, हास्य के उचित समय व स्थान मे, विचारपूर्वक सुधार के यत्न हो सकते हैं। यह यत्न भी चरित्र-निर्माण का ही उपक्रम होगा।

हसी हमारे हार्दिक आनन्द की द्योतक मानी जाती है। परन्तु क्या यह बात शत-प्रतिशत सच है? क्या हम केवल मानसिक आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए हसते हैं?

दूर जाने की आवश्यकता नही, अपने ही मन मे टटोलकर देखिए। जितनी बार आप दिन मे हसते हैं, क्या उतनी ही बार आपका हृदय सच्चे हर्ष का अनुभव करता है? आप के मन मे धीमी-सी आवाज मे उसका उत्तर मिलेगा, 'नही तो!'

सडक के बीचोबीच किसीको गिरता देख हमारी हसी अनायास ही फूट पडती है। हम उसे छिपाने की कोशिश करते हैं, इसलिए कि कही लोग हमे असभ्य न समझें। फिर भी यह हसी फूट ही पडती है। यह हसी हमारे हार्दिक हर्ष की अभिव्यक्ति नही, बल्कि मन मे छिपे उस अहभाव की अभिव्यक्ति है जो गिरने वाले को धिक्कार कर कह रहा होता है कि 'यदि तुम भी मेरी तरह चलना जानते तो न गिरते, मैं तुमसे अच्छा चलना जानता हू।' यह अहभाव ही हमे हसाता है। ऐसी हसी हमारे चरित्र की निर्बलता है।

हमारी स्वार्थ-भावना ही हमें हंसाती है—हमारी स्वार्थ-भावना ही हमे हसाती है। एक व्यक्ति भरी सभा मे भाषण देते हुए घबराकर जब कुछ भूल जाता है तो हम खिलखिलाकर हस पडते हैं। हमारा मन उस समय यह कह रहा होता है कि 'अच्छा हुआ, इस परिस्थिति मे कोई दूसरा था, हम नही थे।'

अपने को ऊचा समझने की प्रवृत्ति भी हमे सभ्य समाज मे बैठकर दूसरो की हसी उडाने को प्रेरित करती है।

अपनी कमजोरी और अल्पज्ञता को छिपाने के लिए भी हम हसी की आड लेते हैं। जब कोई ऐसा महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सम्मुख आता है जिसको हमारी बुद्धि समझ नही पाती तो हम यह कहकर कि 'अरे, यह तो फिजूल-सी बात है, इसके चक्कर मे हम नही पडते,' उस बात को हसी मे उडा देने का यत्न करते हैं। यह हसी भी हार्दिक प्रसन्नता को व्यक्त न करके हमारी अल्पज्ञता और उसे छिपाने के मिथ्या आचरण को व्यक्त करती है।

मन के विपरीत भावो को ढकने के लिए भी हम हसी का आवरण धारण करते हैं। जिनके साथ हमारा मन और विचार मेल नही खाते उनसे मिलते, वातचीत करते समय प्राय हम हसमुख ही नही अत्यधिक हसमुख वनने का यत्न करते हैं। हसी की बात न होने पर भी हसते हैं। हमारी यह हसी अपनी आन्तरिक उदासीनता को छिपाने के लिए होती है। हम नही चाहते कि हमारी उपेक्षा उनपर प्रकट हो, इसलिए हम वनावटी हसी हसते हैं।

ऊंचे स्वर से अट्टहास—जिनका व्यक्तित्व अविकसित रह जाता है, वुद्धि अपरिपक्व रह जाती है या जिनकी मानसिक प्रवृत्तिया अस्वाभाविक दवाव मे निरुद्ध रह जाती हैं, वे अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक मात्रा में और ऊचे स्वर से अट्टहास करते हैं। वे हर बात पर हसते है—और विजली की तरह कडककर हसते है। वे अपनी हीनभावना के पूरक के रूप मे ही अपनी हसी को अपनाते है। मैं एक ऐसे हसोड व्यक्ति को जानता हू जो हसी के विना कोई बात ही नही करते। उनके गालो की पेशिया इतनी अभ्यस्त हो गई हैं कि इतने ऊचे स्वर से हसते हुए भी उन्हे थकान नही होती। साधारणतया हसी के आवेश मे मनुष्य की आखें भी गीली हो जाती हैं। लेकिन ऐसी झूठी हसी हसनेवाले विलकुल सूखी हसी हसते है।

दूसरो पर अपना प्रभाव डालने के लिए भी हम वहुत वार हसी का सहारा लेते हैं। अपने विरोधी की दलील पर उपेक्षापूर्ण हसी हसकर हम सुननेवालो को यह कह रहे होते हैं कि 'देखो इसे, कितनी मूर्खता की बात कह रहा है। यह उपेक्षासूचक हसी विपक्षी को परास्त करने मे वडी सहायक होती है। वे भी हसनेवाले के साथ मिलकर उसके विपक्षी पर हसने लगते हैं। हसी छूत के रोग की तरह फैलती है। दुनिया हसनेवालो का साथ देती है। आप हसेंगे तो लोग भी आपके साथ हसेंगे। आप दूसरो पर हसेंगे तो लोग भी दूसरो पर हसेंगे।

कभी-कभी हम विना किसी वात के भी हसते हैं; केवल दूसरो को हसता देखकर खिलखिला उठते हैं। अश्लील या असभ्य मजाक की वातें भी हमे हसा देती हैं। इस हसी मे अर्धचेतन मन मे दवी हमारी वासनाओ

को अभिव्यक्ति मिलती है। हसी-मजाक की आड मे हमारी असामाजिक प्रवृत्तियो को प्रकट होने का अवसर मिल जाता है। यह भी अच्छा ही है। अन्यथा हमारी निरोधित वासनाए मन मे ही दवी रहकर किसी भय-कर कुचेष्टा द्वारा प्रकट होगी। हसी के माध्यम द्वारा उनका प्रकट होना ऐसा अपराध है जो सभ्य समाज द्वारा क्षमा योग्य माना जाता है।

सरल, स्वाभाविक हसी—जीवन मे हसी का मूल्य किसी भी अन्य अभिव्यक्ति से कम नही। इसकी उपयोगिता भी कम नही है। फिर भी हम इसे सुन्दर, सरल और स्वाभाविक वनाने का प्रयत्न नही करते। सच्ची हसी वही है जो मानसिक प्रसन्नता को प्रकट करे, वह हसी मन की सरलता, उदारता और सहानुभूति को प्रकट करनेवाली होनी चाहिए। वच्चे की-सी सरल, स्वाभाविक और भोली हसी, मनुष्य का जीवन पर्यन्त साथ निभाती है।

हसने से पहले हमे यह देख लेना चाहिए कि वह हसी किसीको कष्ट पहुचानेवाली न हो। जो व्यक्ति केवल अपनी ही मानसिक प्रसन्नता के लिए हसता है वह आत्मपरायण है, स्वार्थी है,स्वार्थपूर्ण हसी विष से वुझे वाण की तरह दूसरे को घायल करनेवाली होती है।

स्वस्थ हसी मनुष्य के चरित्र की वहुत वडी देन है। काटो मे हसने-वाले ही चरित्रवान् होते हैं। यही चरित्र की परीक्षा है। हसने के लिए विशेष प्रयत्न करने की जरूरत नही होती। छ महीने का वच्चा भी हसना जानता है। किन्तु कई वार रोते-रोते हम हसना इस कदर भूल जाते है कि हसी की वात पर भी नही हसते। जव ऐसा हो तो हमे हसने का अभ्यास करके भी हसना चाहिए। जैसे मानसिक प्रसन्नता का कारण हसी होती है वैसे कई वार हसी भी मानसिक प्रसन्नता का कारण वन सकती है। जव रोना आ रहा हो, आखें वरवस रोने को उमड रही हो, कष्टो के भवर से निकलने का कोई रास्ता न सूझता हो, कदम-कदम पर रास्ते के काटे दामन पकड लेते हो—ऐसे विकट समय मे यदि आप एक वार हस दें, खिलखिलाकर हस पडें तो आपकी आपत्तियो के घने वादल हसी की हवा मे विखरने शुरू हो जाएगे। हसी के झोंके उन वादलो को उठाकर दूर ले जाएगे। प्रसन्नता का सूर्य काले वादलो को चीरकर

निकल आएगा।

महापुरुषो की हसी मे यही जादू होता है, उनकी हसी लाखो व्यक्तियो के हृदयो मे प्रतिध्वनित होकर आकाश मे छा जाती है। गाधीजी की वाल-सुलभ हसी ने हजारो नैराश्य-पीडित हृदयो को नया जीवन दिया था।

चरित्र और सौन्दर्य-प्रेम—वचपन मे मन पर डाला गया प्रभाव और वचपन की मनोभावनाए जीवन के अन्त तक वनी रहती हैं। अपने वातावरण को कलात्मक ढग से सुन्दर वनाने से वच्चे के चरित्र का सुन्दर विकास होता है। कला-प्रेम व सौन्दर्य-प्रेम भी बच्चे के चरित्र को विकसित करने मे वडा सहायक होता है।

मानव-चरित्र के विकास में विज्ञान और कला दोनो समान भाव से सहयोगी रहे हैं। सभ्यता का मार्ग हम विज्ञान के सहारे तय करते हैं किन्तु सस्कृति का विकास हमारी कलात्मक रचनाओ द्वारा ही होता है।

सौन्दर्यप्रियता की भावना मनुष्य मे स्वाभाविक है। यही भावना मनुष्य मे अपना चरित्र कलात्मक वनाने की इच्छा उत्पन्न करती है। वचपन से ही हम अपने प्रत्येक कार्य मे अपनी कलाप्रियता को अभिव्यक्त करते रहते हैं। सुन्दर पहरावा, प्रकृति से प्रेम, घर की सजावट, सुन्दर रहन-सहन, ये सब हमारे कलात्मक चरित्र के सजीव प्रमाण है।

चरित्र की कलात्मक भावनाओ को प्रकट रूप देने के लिए हमे निरन्तर उद्योग करना चाहिए। मनुष्य मे सौन्दर्य-भावना को जागरित करना और उसकी कलात्मकता को अनुप्राणित करना, मनुष्य के चरित्र को ऊचा उठाना है।

वच्चा जन्म से ही कलाकार और सौन्दर्यप्रेमी होता है। जब उसे कुछ लिखना नही आता तव भी वह जो कुछ हाथ मे आ जाए उसकी सहायता से कुछ न कुछ वनाने का यत्न किया करता है। उसकी ये रचनात्मक वृत्तिया ही उसके चरित्र का निर्माण करती हैं।

जो वच्चा सौन्दर्य से उदासीन है, रचना मे आनन्द नही लेता, उसका मन विकृत समझना चाहिए। मा-वाप का कर्तव्य है कि वे बच्चे मे व्यवस्था और सौन्दर्य की भावना को उत्साहित करते रहे।

जिसे सुन्दर वस्तुओं से प्रेम होगा वही अपने चरित्र को सयत और सुन्दर बनाने का यत्न करेगा। जिस बच्चे मे स्वच्छ, निर्मल वस्त्र पहनने की रुचि होगी, वही स्वच्छ, निर्मल मन का महत्व समझ सकेगा। उसे बाह्य या आन्तरिक मलिनता से स्वाभाविक अरुचि होगी। वह सदा प्रयत्नशील रहेगा, रचना-प्रवीण रहेगा और चरित्रवान् रहेगा।

एकाकीपन मे रस लेना चरित्र की पूर्णता है—मनुष्य के व्यक्तित्व का एक छोर विश्व के विशाल मायाजाल से छू रहा है और दूसरा छोर अपने एकाकीपन मे ही सिमटकर पूर्णता अनुभव कर लेता है। दुनिया मे रहता हुआ भी वह अकेला रहता है। सामाजिक प्राणी होते हुए भी मनुष्य वैयक्तिक प्राणी है। उसके स्वभाव मे दोनो चरित्रो का समावेश है। इन दोनो विरोधी गुणो की व्यवस्था जहा सन्तुलित होगी, वही सुख होगा।

दुनिया के मेले मे जो मनुष्य बिल्कुल खो जाते हैं उनका चरित्र अधूरा रह जाता है। दूसरो की खुशी पर अपनी खुशी न्योछावर कर देना, दूसरो के लिए अपने सुख का बलिदान कर देना अवश्य मनुष्य के चरित्र को व्यक्तित्व की पूर्णता की ओर ले जाता है किन्तु व्यक्तित्व का बलिदान वही कर सकेगा जिसके पास व्यक्तित्व की सम्पत्ति होगी। अपने सुख का त्याग वही कर सकेगा जिसके पास अपना सुख होगा। अत समाज के लिए व्यक्तित्व का बलिदान करने से पहले मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिए।

दानी बनने से पहले सम्पत्तिशाली बनना पड़ेगा—जो लोग अपना व्यक्तित्व बनाए बिना समाज मे जाते हैं वे केवल दूसरो के सुख मे भाग लेने जाते है। लेने का अधिकार हमे तभी होता है अगर हमारे पास कुछ देने को भी हो। दानी बनने से पहले सम्पत्तिशाली बनना पडता है, त्यागी बनने से पहले त्याग की सामग्री जुटानी पडती है। तभी त्याग की महिमा होती है। सामाजिक 'बनने से पहले हमे एकाकी रूप मे सुखी बनना चाहिए। दूसरो के सम्पर्क मे रस लेने से पहले हमे एकाकीपन मे रस लेना चाहिए।

अकेलेपन मे रस लेने के लिए मनुष्य को प्रकृति-प्रेमी, अध्ययनशील

और कलाप्रिय होना चाहिए। महान् व्यक्तियो को एकाकीपन वहुत प्रिय होते हुए भी वे जनता से खो नही जाते। जवाहरलालजी जनता के प्रिय थे। जहा वे जाते थे, लाखो लोग उनके दर्शनो को उमड पडते थे। उन्हे भी जनता से प्रेम था किन्तु अपनी जीवनी मे वे स्वय लिखते है—

'मैं जनता के निकट पहुचा और जनता मेरे निकट आई, फिर भी मैं जनता के आगे अपने को समर्पित नही कर सका। जनता के वीच रहकर भी मैं उमसे दूर अपनी पृथक सत्ता रखता हू।'

जब एकान्तप्रियता नई उमग भरती है—एकाकीपन जवाहरलालजी को प्रिय था। भावावेश मे रहना और एकान्तप्रियता जवाहरलालजी के चरित्र के अग हो गए थे। ऐसे एकान्तप्रिय व्यक्तियो को प्रकृति से प्रेम हो जाता है। प्रकृति मे उन्हे जो सतोष, उमग और उत्साह मिलता है, वह जनता की वाहवाही से नही मिलता, अपनी पहली पर्वत-यात्रा का वर्णन करते हुए जवाहरलालजी ने लिखा है—

'पर्वत की उन निर्जन घाटियो मे घूमने का यह मेरा पहला अनुभव था। हम जोजीला घाटियो की चोटी पर थे। नीचे एक ओर देवदार के ऊचे वृक्षो की घनी हरियाली थी, दूसरी ओर सूखे पहाडो की नगी चट्टानें। ऊपर वरफ से ढकी हुई चोटिया चमक रही थी। और उनमे से छोटे-छोटे ग्लेशियर हमसे मिलने के लिए नीचे उतर रहे थे। हवा ठण्डी और कटीली थी। धीरे-धीरे सूनापन वढता गया। पेडो और वनस्पतियो तक ने हमारा साथ छोड दिया। सिर्फ नगी चट्टानें, वरफ की शिलाए और कभी-कभी खुशनुमा फूल दीख जाते थे। प्रकृति के इस सुनसान रूप मे मुझे अजीव सन्तोष मिला। और एक ऐसा उत्साह और उमग का तूफान दिल मे आया जो पहले कभी नही आया था।'

जवाहरलालजी की तरह चीन के सेनानी—जो अव एकान्त जीवन मे लौट गए हैं—चागकाई शेक भी एकान्तप्रिय व्यक्ति हैं। उन्हें भी पहाड की घाटियो मे अकेले घूमना वहुत अच्छा लगता है। लाखों व्यक्तियो के नेता होते हुए भी वे एकाकीपन मे रस लेते हैं।

प्रकृति-प्रेम—एकान्तप्रिय व्यक्ति का वरदान—ऐसे एकान्तप्रिय व्यक्तियो के लिए आकाश मे दौडते हुए वादल, धरती पर खेलती हुई

धूपछाव, झरने के कलकल मे फूटती हुई कविता, वृक्षो की झूमती हुई शाखाए जितनी मनोरजक होती है, उतने ससार के कोलाहल या उत्तेजक नृत्य-सगीत नही होते।

जीवन के एकाकीपन को सरस बनाने का श्रेय पुस्तको को भी कम नही। पुस्तक हमे महान् आत्माओ से सगति का अवसर देती हैं। जिन्हे स्वाध्याय का अभ्यास है उनके जीवन का एकाकीपन सुन्दर बन जाता है। फीकापन या उदासीनता उनके मन को डराती नही। कला मे रुचि रखना भी एकाकीपन को सरस बनाने मे सहायक है। सगीत, चित्रकला, नृत्य या मूर्तिकला मे मन लगाने से जीवन सरस बन जाता है।

सच तो यह है कि जीवन मे मुख्यतया है ही एकाकीपन। जिन्होने इसमे रस लेना नही सीखा, उन्होने जीवन मे कुछ नही सीखा। उनकी शिक्षा व्यर्थ गई। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का सच्चा साथी चुनता है किन्तु विरले ही हैं जिन्हे अपने स्वप्निल ससार का सर्वगुण सम्पन्न साथी मिल जाए। सर्वांश मे अनुकूल साथी मिलना कठिन ही नही, असम्भव है। अत मनुष्य का असली साथी मनुष्य स्वय ही होता है। अपने मे रमनेवाला व्यक्ति ही स्थिर आनन्द की तृप्ति लेता है। स्थिर आनन्द पाना ही जीवन का लक्ष्य है। जिसने अकेले रमना सीख लिया उसने अपना लक्ष्य पा लिया। वह अपने स्वरूप को पहचान गया। यही चरित्र-निर्माण का लक्ष्य है। चरित्रवान् व्यक्ति ही सच्चे अर्थो मे एकान्तप्रिय हो सकता है।

एकाकीपन का यह अर्थ नही कि आदमी आखें फोडकर अन्धा हो जाए या कानो के परदे छेदकर बहरा बन जाए। टागें तोडकर समाधिस्थ या अधे होकर प्रज्ञाचक्षु हो सकते तो दुनिया के लगडे-लूले और अधे-काने सबसे पहले आत्मज्ञानी होते। अपनी प्रवृत्तियो की सम्यक् व्यवस्था करके उन्हे अपनी आत्मा मे केन्द्रित करना ही सच्चा आत्मबोध है। एकान्तप्रिय वही होगा जिसे यह आत्मबोध होगा।

19

विचार ही हमें बनाते हैं

विचार और चरित्र—'जैसा विचार करोगे वैसा वन जाओगे'—इस उक्ति मे गहरा सत्य छिपा है। गौतम बुद्ध ने यही कहा था। ईसामसीह ने भी यही कहा था।[1] विचारो मे यही निर्माण-शक्ति है जो किसी भी अन्य दैवी शक्ति मे है। इस शक्ति की कोई सीमा नही। हम अपनी आखो से जो कुछ देखते हैं उसका चित्र हमारे मन के पर्दे पर खिच जाता है। सपूर्ण विश्व की छवि हमारे मानसिक पट पर खिची रहती है। किन्तु वह छवि, जो कुछ हम देखते हैं, उससे भिन्न होती है। क्योकि मनुष्य स्वय कलाकार है, अपनी प्रतिभा से वह उस चित्र मे जैसा चाहे परिवर्तन कर लेता है। यह चित्र मनुष्य की प्रसुप्त चेतना मे हर क्षण बना रहता है और उसके विचारो को प्रभावित करता है। इस चित्र मे मनुष्य की कल्पना जव तीव्र विचारो से जागकर दृढ इच्छा-शक्ति द्वारा प्रेरित होती है तव यही कल्पना मूर्तिमान् वन जाती है और मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता वन जाता है। इसलिए हम कहते हैं कि विचार ही मनुष्य की प्रेरक शक्ति है और विचार ही मनुष्य का भाग्य-निर्माता है।

विचारो मे निर्माण-शक्ति—विचार द्वारा यह निर्माण-कार्य एक क्षण मे नही हो जाता। साधारण व्यक्ति अपनी कल्पना मे चित्र का निर्माण करता है किन्तु अपनी इच्छा-शक्ति को इतना प्रवल नही वना पाता कि वह कल्पना को साकार कर सके। अपनी मजिल तक पहुचने से पहले ही वह हिम्मत हार जाता है। उसके विचारो की शक्ति वहुत क्षीण होती है। इस शक्ति को वडे प्रयत्न से सिद्ध करना चाहिए। विखरे हुए विचारो मे निर्माण-शक्ति नही होती। उन्हें एक विन्दु पर केन्द्रित करने के वाद ही उनमे यह शक्ति आती है।

---

1 As a man thinketh in his heart so is he,

इस निर्माण-शक्ति के संचय के लिए मनुष्य को प्रतिदिन एकाग्र होकर यत्न करना चाहिए। एक आदर्श के लिए विचारो को एकाग्र करना युद्ध के लिए सैन्य-सामग्री को एक स्थान पर जमा करने के समान है। जिस तरह पानी की बूंदें एक ही स्थल पर गिरती हुई पत्थर को भी तोड देती हैं उसी तरह विचारो की निरन्तर एकाग्रता ससार की प्रत्येक बाधा का मानमर्दन कर सकती है।

विचारों का केन्द्रीकरण—बिखरी हुई सूर्य की किरणें किसी वस्तु को नही जला सकती—किन्तु शीशे की सहायता से केन्द्र-बिन्दु पर केन्द्रित हुई वही किरणे एक क्षण मे लोहे को भी पिघला देती हैं। विचारो के केन्द्रीकरण मे भी यही शक्ति होती है। हमे अपनी मानसिक शक्तियो को एक ही बिन्दु पर केन्द्रित करना चाहिए। अभ्यास से शक्ति विकसित की जा सकती है।

गीता मे भगवान् कृष्ण ने कहा है—"ध्यायतो विषयान्पुस सगस्तेषूपजायते।' विषयो के चिन्तन से ही मनुष्य की सगति विषयभोग मे होती। शुभचिंतन से मनुष्य की सगति शुभ कार्यों मे होगी। यह चिंतन ही मनुष्य को कर्मों मे प्रवृत्त करता है। यूरोप के विख्यात दार्शनिक इमर्सन ने इन्ही विचारो को बडे सुन्दर शब्दो मे लिखा है।[1]

'विचारो को स्वतन्त्रता दीजिए, विचार कामनाओ का रूप धारण कर लेंगे, कामनाओ को स्वतन्त्र मार्ग दीजिए, वे कार्य मे परिणत हो जाएगी, कार्यों को स्वतन्त्रता दीजिए, आदतें बन जाएगी, आदतें ही कुछ दिन के बाद चरित्र के रूप मे प्रकट होगी, वही चरित्र मनुष्य के भाग्य का निर्माण करेगा।'

विचारो द्वारा भाग्य-निर्माण—भाग्य-निर्माण का यह कार्य विचारो से

---

1 Allow the thought it may lead to choice,
Allow the choice it may lead to an act,
Allow the act it forms the habit,
Continue the habit it shapes your character,
Continue the character it shapes your destiny.

ही प्रारम्भ होता है। विचारो की नीव पर ही कार्यों का भवन खडा किया जाता है। ससार में कोई भी काम अचानक नही होता। न ही सयोगवश कोई घटना घटती है। जिस प्रकार पौधा वीज में छिपा होता है, उसी तरह हमारे कार्य हमारे विचारो मे रहते हैं। जो काम हम विना सोच-विचार के करते हैं वे काम भी बीज रूप से हमारे विचारो मे पहले से विद्यमान होते है।

सुविचारो की खेती—हमारा मस्तिष्क एक ऐसी उपजाऊ भूमि है जहा कुछ न कुछ अवश्य उगना है। यदि हम वहा कुशलता से फल-फूल लगाए तो फुलवाडी वन जाएगी, काटो की झाडिया लगाए तो काटे पैदा हो जाएगे। और यदि प्रमादवश यो ही पडा रहेगा तो हमारे न चाहते हुए भी वहा कटीली घास उग आएगी और निरुपयोगी पौधे सारी भूमि पर छा जाएगे। हमारा मन कभी शून्य भाव मे स्थिर नही रहता। यह प्रतिक्षण अपनी परिस्थितिया स्वय वनाता रहता है। अपने निरन्तर प्रयत्न से यदि हम उसमे सुविचारो की खेती नही करेंगे तो कुत्सित विचारो का जगल पैदा हो जाएगा।

क्षणिक आवेश का कोई अर्थ नहीं—जीवन की व्यवस्था मे अकस्मात् कोई वात नही होती। जव मनुष्य कोई अपराध करता है तो केवल क्षणिक आवेश के वश मे ही नही करता। हम प्राय सुना करते हैं कि उस व्यक्ति ने क्षणिक आवेश मे आकर खून कर दिया। यह कथन सर्वांश मे सत्य नही है। जो व्यक्ति किसी हत्या की दुर्भावना को देर तक मन मे स्थान देता है, वही हत्या कर सकता है। गुप्त रूप से हत्या की भावना मन मे होगी तभी हत्या-कार्य होगा, अन्यथा वडे से वडा आवेश भी मनुष्य को हत्या के लिए तैयार नही करेगा। यदि कोई मनुष्य मदिरालय मे जाकर शराव पीता है या व्यभिचार करता है, तो यह कभी नही समझना चाहिए कि यह केवल उसका दुर्भाग्य ही है या परिस्थितियो ने उसे व्यभिचार करने को मजवूर कर दिया है। परिस्थितिया ही मनुष्य के चरित्र को वनाती या विगाडती नही हैं, वल्कि मनुष्य के विचार ही परिस्थितियो का निर्माण करते हैं। मनुष्य अपने विचारो के अनुरूप सगति को ढूढ लेता है। उसका वातावरण उसके विचारो के अनुकूल वन जाता है। तभी यह कहावत प्रसिद्ध है कि

मनुष्य का चरित्र अपने सगी-साथियो और पुस्तको से पहचाना जाता है परिस्थितिया एक काम अवश्य करती हैं। वे मनुष्य के सामने उसका भेद खोल देती हैं। जिसे अपने चरित्र की परीक्षा करनी हो, वह अपने आस-पास के वातावरण, सगी तथा साहित्य की परख कर ले, उसे अपने चरित्र का सच्चा स्वरूप मालूम हो जाएगा।

प्रत्येक अपराध का इतिहास होता है—मनुष्य विचार करने मे स्वतन्त्र है इसलिए वह अपने चरित्र को अपनी इच्छानुसार बनाने मे ही स्वतन्त्र नही, बल्कि अपने वातावरण को भी अपनी इच्छा के अनुकूल बनाने मे स्वतन्त्र है। ससारी जीवन यात्रा मे वह हर कदम पर उन परिस्थितियो को अपने आसपास बटोरता रहता है जो उसके चरित्र के अनुकूल होती हैं और उसके स्वरूप को प्रकट करती हैं। अत विचारो के अन्तर्जगत् के अनुसार ही मनुष्य का बाह्य जगत् बनता है। अपने मन को बुरे विचारो मे भटकने देने की आज़ादी वही आदमी देगा जिसे कुत्सित विचारो मे ही आनन्द आएगा। विचारो मे व्यभिचार का आनन्द लेनेवाला व्यक्ति क्रिया मे सयमी नही रह सकता। प्रथम अवसर पर ही वह पतित हो जाएगा। पतन को आकस्मिक कहकर बहुत लोग अपने को धोखा दिया करते है। यह प्राय आकस्मिक नही बल्कि स्वाभाविक घटना होती है। ऐसे प्रत्येक अपराध के पीछे उसका इतिहास छिपा रहता है।

विचारों का गुंजन—विचारो द्वारा चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया मे एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि प्रत्येक विचार मनुष्य के मन व शरीर पर अपना स्थायी प्रभाव व एक गुजन-सा छोड जाता है। इस गुजन मे एक आकर्षण रहता है। इस आकर्षण का व्यक्तिगत आकर्षण मे बडा महत्त्व है। इस गुजन के घनत्व मे भी अन्तर होता है। निर्बल मनुष्य के निषेधात्मक विचारो के गुजन का घनत्व बहुत कम होता है। इसलिए उन का प्रभाव बहुत स्थायी नही होता। इसके प्रभाव से सबल व्यक्ति कभी आकर्षित नही होते। इसके विपरीत सबल व्यक्ति के विचारो का गुजन न केवल अपने आसपास सबल व्यक्ति को खीचता है बल्कि वह विचारक के मन को और भी सबल बनाने मे सहायक भी होता है। सबल विचारो का वह चुम्बकीय प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र मे प्रकट होता है। प्रत्येक व्यक्ति

का विचार-वातावरण अपने विचारो के अनुरूप वन जाता है। यही मनुष्य का चरित्र या व्यक्तित्व होता है।

व्यक्तियो का ही नही, सस्थाओ या स्थानो का वातावरण भी इसी तरह वनता है। राष्ट्रों का भी अपनी विचार-परम्पराओ के अनुसार अपना वातावरण वन जाता है। हर घर का अपना चरित्र होता है जो घर के पति-पत्नी के अनुसार होता है।

वातावरण मनुष्य के विचारो का दर्पण है—चिन्तन तो मनुष्य एकात मे, मन के गहरे परदे मे छिपकर ही करता है किन्तु उसका प्रकाश स्वय चारो ओर फैल जाता है। वातावरण मनुष्य के विचारो का दर्पण है। जिस तरह एक-एक विन्दु से तालाव भरता है उसी तरह एक-एक विचार से मनुष्य-जीवन का भविष्य वनता है। विचारो का जैसा चुनाव करेंगे भविष्य वैसा ही वन जाएगा।

अच्छे दिनो की प्रतीक्षा मे समय मत गवाइए। जिस क्षण आप विचारो मे उच्चता लाने का सकल्प करेंगे वही क्षण आपके जीवन का महत्वपूर्ण क्षण वन जाएगा। किसी भी रचनात्मक विचार-सारणी का चुनाव कर लीजिए। उसके वीजो का वपन आपके अन्तस्तल की गहराई मे शुरू हो जाएगा। विचारो मे ही जीने का अभ्यास कीजिए आपका जीवन विचारमय हो जाएगा। इस मानसिक क्रिया का प्रभाव स्वय ही आपकी दैनिक चेष्टाओ मे प्रकट होने लगेगा। विचार कभी प्रभावशून्य नही रहते, प्रभाव प्रकट होने मे देर भले ही हो जाए।

अन्तर्मुख होना आदर्शो के निकट जाना है—विचारो मे ही जीने का दूसरा नाम अन्तर्मुख होना है। अन्तर्मुख होते ही आपके अभीष्ट आदर्शो का चित्र आपके मानस-पटल पर खिच जाएगा। चित्र की रेखाए जव अधिक स्पष्ट होने लगेंगी तो वाह्य जगत् मे भी वही रूप स्पष्ट होने लगेगा और आप सदैव अपने को अपने आदर्शों के समीप पाएगे। हमारा भाग्य विचारो से ही वनना है। यदि हम अपनी आत्मा की गहरी खान मे खोज करें तो हमे जगत् का प्रत्येक सत्य अपने से सम्वन्वित मालूम होगा। यही सत्य है। हम भी विश्व की आत्मा के ही अश है। विषय-भोग की लालसा मे हम इस सचाई को भूल जाते हैं। विचार-जगत् में आकर

हम फिर विश्वात्मा के निकट पहुच जाते हैं । जिज्ञासु होकर ही मनुष्य ज्ञान-मन्दिर मे प्रवेश पाता है। दरवाज़ा खटखटानेवाले के लिए ही दरवाज़ा खुलता है।

परिस्थितियो से युद्ध करने का अर्थ—आप पूछेंगे कि यदि मनुष्य अपने विचारो से अपनी परिस्थितिया स्वय बनाता है तो परिस्थितियो मे युद्ध करने का अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि मनुष्य बाह्य परिस्थितियो से जो विद्रोह प्रकट करता है वह सच्चा विद्रोह नही है। अपने मन मे वह उन परिस्थितियो के कारणो को सुरक्षित रखकर पनपने देता है। उन कारणो से विद्रोह करने का साहस उसे नही होता। यही मनुष्य की निर्बलता उसके प्रयत्नो को निष्फल बना देती है।

काटे बोकर फूल पाने की आशा—हम दरिद्रता से घृणा करते हैं किन्तु दरिद्रता के कारणो को अपनाए रहते है। आलस्य को दूर नही करते, काम से जी चुराते हैं और चाहते हैं कि दरिद्रता स्वय दूर हो जाए। हम बबूल के बीज ज़मीन मे बोकर फूलो की आशा करते हैं। सुख की चाह सबको है किन्तु जीवन मे दु ख के बीज बोकर हम सुख नही पा सकते । विचारो और कार्यों मे यह विरोध हमे जीवन मे सफल नही होने देता । हम स्वास्थ्य चाहते हैं किन्तु जिह्वा का लोभ नही छोड सकते। स्वास्थ्य के लिए हम हज़ारो रुपये खर्च कर देंगे किन्तु स्वादु भोजन का लालच नही छोडेंगे। विचारो की काल्पनिक उच्चता ही हमे उत्कृष्ट नही बनाती, हमारे कार्य भी वैसे ही होने चाहिए।

विचारशील भी दु खी होते हैं—दुनिया मे बहुत-से उदाहरण ऐसे है कि मनुष्य विचारवान् होने पर भी दु खी और विचारहीन होने पर भी सुखी नज़र आते हैं। इन उदाहरणो से यदि यह परिणाम निकाला जाए कि विचारशीलता दु खजनक और विचार-हीनता सुखजनक है तो यह भूल होगी। वस्तुत सुविचार और कुविचार मे भेद करने मे ही हम प्राय भूल कर जाते हैं।

ससार मे शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य आपस मे इतने उलझे हुए हैं कि दोनो मे दो टूक निर्णय करना असम्भव कार्य है। बाह्य दृष्टि से पतित दिखाई देने वाला व्यक्ति ही बहुत बार इतना गुणी सिद्ध होता है

कि हम चकित रह जाते है। उसको उसके दुर्गुणो से नही, वल्कि गुणो से मफलता मिलती है। वेईमान आदमी मे भी अनेक ऐसे गुण होते हैं जो ईमानदार मे नही होते, ईमानदार आदमी मे भी ऐसे दुर्गुण होते हैं जो वेईमान मे नहीं होते। ईमानदार आदमी को अपने सद्गुणो का अच्छा इनाम अवश्य मिलेगा किन्तु अपने दुर्गुणो के अनिष्ट परिणाम से भी वह नही वच सकेगा। कुदरत के कानून किमीका पक्ष नही लेते। मनुष्य-मनुष्य को धोखा दे मकता है, कुदरत की आखो मे धूल नही झोकी जा सकती।

शुभ कर्मों से अशुभ फल नहीं निकलेगा—हमे इस मचाई को कभी नही भूलना चाहिए कि अच्छे काम कभी वुरा परिणाम नही ला सकते। गीता मे भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को वडे स्पष्ट शब्दो मे कहा था 'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गति तात गच्छति।' कल्याण करनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नही होता। अनाज के वीज से ववूल का पौधा कभी पैदा नही होगा। धरती कैसी ही खराव हो, फलो के वीज से काटो की खेती नही हो सकती; और धरती कितनी ही अच्छी हो, ववूल के वीज से अनाज के अकुर पैदा नही होंगे। अच्छे विचार कभी वुरे कामो का परिणाम पैदा नहीं करेंगे।

मनुष्य को जव दु ख भोगना पडता है तो उसे समझ लेना चाहिए कि उसके विचारो मे अवश्य कही भूल हुई है, वह कही भटक गया है, जीवन के सच्चे नियमो का उल्लघन कर गया है। परिस्थितियों मे विषमता भी विचारो की उलझन से ही पैदा होती है। सीधे-स्वच्छ विचार कभी जीवन को विपम और जटिल नही वनाते। हमारे सुख और दु ख ही हमारे विचारो के मापक हो सकते हैं। सच्चे अर्थों मे विचारशील व्यक्ति दु खी नही हो सकता।

सच्चा विचारक वही है जिसका हृदय घृणा, काम-वासना और अभिमान से रहित हो। ऐसा विचारक ससार को निर्दोप नेत्रो से देखने लगता है। उसके हृदय से अखण्ड प्रेम की ज्योति निकलती रहती है। घोरतम शत्रु भी उसके दिल मे शत्रुता की भावना को नही जगाते। अपने अपकारी के लिए भी वे सदा सहानुभूति, दया, क्षमा के कोमल भावो से भरे रहते हैं। विपाद और विद्वेप की आग से उनका हृदय कभी जलता नही

है। पर्वतो के आचल में स्थित सरोवर की तरह उनका मन सदा शान्त रहता है।

सच्चा विचारक सदा आत्मतृप्त रहता है। उत्तेजना, चिन्ता और भय की आधिया उसके आत्मस्थ मन को चचल नही वनाती। अशान्त व्यक्ति कभी सवल नही होता। वाह्य आघातो से विचलित होनेवाला व्यक्ति वहुत दुर्वल होता है। अपनी दुर्वलताओ से ही वह सदा थका-हारा-सा रहता है। इन दुर्वलताओ पर केवल विचार द्वारा ही विजय पाई जा सकती है। विचारो को सुविचारो से ही वलशाली वनाया जा सकता है।

20

एकाग्रता और स्मृति-शक्ति का संचय

एकाग्रता की शक्ति—विचारो मे शक्ति तभी आती है जव विचारो का प्रकाश एक ही विन्दु पर केन्द्रित किया जाए। लक्ष्य का निश्चय करके एकाग्र मन से ही उसका साधन हो सकता है।

उपनिषदो मे कहा है

प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा
लक्ष्यवत्तन्मयो भवेत्।

अर्थात् व्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रणव के धनुष पर आत्म का वाण लेकर लक्ष्य के साथ तन्मयता वनाना ही मनुष्य लक्ष्य का वेधन कर सकता है। लक्ष्य के साथ तन्मयता वनाना ही मन का एकाग्र वनाना है। जव मन मे अपने लक्ष्य के अतिरिक्त कोई ध्यान न रहे तभी एकाग्रता आती है। तीरन्दाज अपने निशाने को तभी वेध सकता है जव उसकी आखें अपने लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ भी न देख सकें। यह एकाग्रता निरन्तर अभ्यास मे आती हैं। यह भी एक कला है। इसकी साधना प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। साधना की शक्ति प्रत्येक मनुष्य की अन्तरात्मा मे रहती है। अन्य उपकरणो की इसमे कोई आवश्यकता नही। मन मे सयम आत्मा की आन्तरिक शक्ति से ही सम्भव है। मन का सयमित सकल्प ही आत्मवल

वन जाता है। ससार की कोई भी शक्ति इस आत्मवल या मनोवल का सामना नही कर सकती। आत्मवली व्यक्ति स्वेच्छा से सब काम कर सकता है। यह मनोबल केवल अध्यात्म-क्षेत्र मे ही सहायक नही होता बल्कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे यह मनुष्य को सफलता देता है।

एकाग्रता भी कला की साधना है—एकाग्रता का अभ्यास करना भी एक कला है। पहले-पहल इस अभ्यास से मन मे एक खिचाव-सा वना रहता है। किन्तु वाद मे यह खिचाव दूर हो जाता है। मन सहज एकाग्र वन जाता है। यह एकाग्रता लक्ष्य के प्रति मन मे गहरी दिलचस्पी के बिना सिद्ध नही होती। अत एकाग्र होने से पूर्व मन मे लक्ष्य का प्रेम होना आवश्यक है। उदासीन मन कभी एकाग्र नही होगा। उदासीनता प्राय. निराशा और प्रमाद से जीवन के प्रति उदासीन बना देती है। यह उपेक्षा एकाग्रता की शत्रु है। एकाग्रता के अभ्यास से पूर्व इस अनमनेपन को दूर करना होगा। प्राप्तव्य वस्तु के प्रति दृढ इच्छाशक्ति को जागरित करना होगा। ज्ञान की प्राप्ति उसे ही होती है जो सच्चे जिज्ञासु होते है। जीवन के ऊचे-नीचे, टेढे-मेढे जटिल रास्तो से वही गुजरते है जो जीवन से प्रेम करते हैं। अन्यमनस्क व्यक्ति किसी भी काम को सफलतापूर्वक सम्पन्न नही कर सकता।

स्मृति-शक्ति का महत्त्व—स्मृति-शक्ति का ह्रास भी तभी होता है जब मनुष्य उदासीन हो जाए। विचारक होने के लिए स्मरण-शक्ति का चुस्त रहना भी अनिवार्य है। इस शक्ति की प्राप्ति भी तभी होगी जब मनुष्य अपने मे और अपने आसपास की चीज़ो मे सच्ची दिलचस्पी लेगा। सच्ची दिलचस्पी लेनेवाला ही अपनी परिस्थितियो की परख कर सकता है और अपने लिए अपने अनुकूल नया वातावरण पैदा कर सकता है।

मनुष्य का अर्धचेतन मन इन अगली-पिछली स्मृतियो का एक अमर-कोष-सा वन जाता है। जीवन की सब घटनाए उसमे चित्रित हो जाती हैं। कुछ ऐसी घटनाए भी उसपर असर छोड जाती हैं जो चेतन मन के निकट भी नही जाती। इसलिए मनुष्य का प्रसुप्त मन उसके चेतनमन से अधिक प्रभावशाली होता है। हमारे मस्तिष्क को ऐसा अभ्यास होना चाहिए कि हम अपने स्मृति-कोष को परदा खुलते ही सब सस्मरणो के

प्रवाह मे न वह जाए वल्कि ऐसे ही सस्मरणो को मन मे लाए जो हमारे मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभदायक हो।

परिस्थितियो से प्रेम कीजिए—स्मरण-शक्ति मे वृद्धि का सच्चा उपाय यही है कि हम अपनी परिस्थितियो के साथ प्रेम का व्यवहार करना सीखें, उन्हे अपनी दिलचस्पियो का विषय बनाए। जो व्यक्ति अपने आसपास की चीजो से प्रेम का सम्बन्ध नही जोड सकता वह दूर की चीजो से कैसे प्रेम करेगा ? निकट की वस्तुओ के प्रति उदासीन रहकर दूर की वस्तुओ मे मन लगाना मन की विकृत अवस्था का द्योतक है। स्वाभाविक यही है कि हम अपनी परिस्थितियो से प्रेम करना सीखें।

विचार और स्वास्थ्य—शरीर मे मन मुख्य है, शरीर गौण। मन मे कुत्सित विचारो के पैदा होते ही शरीर का स्वास्थ्य विगडना प्रारम्भ हो जाता है। मन को उपयोगी कार्यों मे लगाए रखना स्वास्थ्य प्राप्त करने की पहली सीढी है। नदी की प्रवहमान धारा की तरह हमारे काम सरल स्वाभाविक रूप से होते रहे तो स्वास्थ्य वहता हुआ आकर स्वय हमारे चरण धोएगा। रोगी होना शरीर का स्वभाव नही है। रुग्णता प्रकृति नही, विकृति है। रोगी व्यक्ति कभी धर्मात्मा नही हो सकता। आध्यात्मिक उन्नति की पहली शर्त शारीरिक स्वास्थ्य है। प्रसिद्ध वचन है 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्'—शरीर ही धर्म का प्रथम साधन है। शरीर की थकान से पहले मनुष्य का मन थकता है। शरीर के रोगी होने से पहले मनुष्य का मन रोगी होता है। इसलिए हमे मानसिक क्लान्ति पर विजय पाने का उद्योग करना चाहिए, विचारो मे स्वास्थ्य पाने का यत्न करना चाहिए। जब तक चरित्र मे अवगुण रहेगे, आदर्श स्वास्थ्य की आशा व्यर्थ है। कुविचार मानसिक विकार हैं और चूंकि शरीर मन का अनुयायी है, मानसिक विकार शरीर को विकृत करते हैं।

आज का मानव नाना प्रकार की अहितकर इच्छाओ और कुविचारो मे अशान्त रहता है। वे कुविचार ही रोग का कारण वन जाते हैं। मनुष्य विलासिता की जगमगाती चीजो को देखते हैं। उन्हे पाने के लिए उतावले होते हैं। एक के वाद दूसरे के पाने की चाह रहती है। इस प्रकार इच्छाओ की अनावर्त तारतम्यता बन जाती है। परि-

णाम यह होता है कि वह न तो भरपेट भोजन करता है और न सन्तोष की नीद लेता है। एक थकान-सी शरीर की नस-नस मे भर जाती है। इस थकान से, मानव-जीवन का जितना क्षय होता है उतना प्लेग व हैजे से नही होता। पशुओ का जीवन भी हमसे अधिक शान्त है। पशु भोजन पाने के बाद सुख से सोता है परन्तु मनुष्य सदा अशान्त रहता है, शरीर को मन की आज्ञा माननी पडती है। चतुर चिकित्सक सदैव शारीरिक अव्यवस्था का कारण मन मे ढूढेगा। जैसे विचार होगे वैसा विकार बन जाएगा। कुविचारो का विष मन तक ही सीमित नही रहता, वह शरीर के अवयवो मे भी फैल जाता है।

शरीर के प्रति उदासीन रहनेवाले सन्त-साधु मानसिक निश्चेष्टता भले ही पा लें, मानसिक आनन्द प्राप्त नही कर सकते। इसी मानसिक शान्ति के प्रति उपेक्षित रहने वाले व्यक्ति कभी शारीरिक स्वास्थ्य को नही पा सकते।

21
उपसंहार

सुधार नहीं, निर्माण—चरित्र-निर्माण ऐसा निर्माण-कार्य नही जैसा चित्रकार चित्र का निर्माण करता है या मूर्तिकार मूर्ति को घडकर बनाता है। जिस भगवान् ने अपने अग से मनुष्य-रूप मे अपनी सुन्दरतम कला की सृष्टि की है, उसने मनुष्य-चरित्र का भी निर्माण किया है। मनुष्य को अपने चरित्र मे ईश्वरीय गुणो का सौन्दर्य विरासत मे मिला है। हमारे शास्त्रो मे मनुष्य को ईश्वर का वरद पुत्र कहा गया है। इसलिए चरित्र-निर्माण का अर्थ किसी अभाव की पूर्ति से नही है, स्वभाव से ही मनुष्य दिव्य चरित्रवाला है। जैसे फूल जन्म से ही रग और रूप की सजावट लेकर आता है वैसे ही मनुष्य भी दिव्यता लेकर अवतरित होता है। वह प्रकृति से सच्चरित्र होता है। किन्तु हमारी सामाजिक व्यवस्था दोषपूर्ण है। व्यक्तिगत रूप से मनुष्य प्राय सदा सच्चरित्र रहता है

परन्तु सामाजिक सगठन मे बधते ही वह स्वार्थी, लोलुप और शोषण-प्रिय हो जाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसके व्यक्तित्व का एक छोर उसकी व्यक्तिगत आत्मा से मिला हुआ है तो दूसरा छोर सम्पूर्ण जन-समाज से बधा हुआ है। समाज के नियम उसके व्यक्तित्व को जटिल बना देते हैं। उसमें हिंसा, प्रतिहिंसा, स्वार्थ, शोषण आदि अनेक प्रवृत्तिया जागृत हो जाती है। ये प्रवृत्तिया उसके चरित्र को निष्कलक नही रहने देती। इनके प्रभाव से वह अछूता नही रहता।

उसका चरित्र भी इन विविध रगो मे रगा जाता है। चरित्र-निर्माण का उद्देश्य इन भावो से चरित्र को दूषित होने से बचाना है। समाज की विषैली हवाओ से मनुष्य के चरित्र की रक्षा करने का कार्य भी चरित्र-निर्माण का उद्देश्य है।

जिस तरह स्वास्थ्य की निरन्तर चिन्ता से स्वास्थ्य का निर्माण नही होता, उसी तरह चरित्र की निरन्तर चिन्ता से चरित्र का निर्माण नही होता। यह चिन्ता चरित्र की शत्रु बन जाती है। निर्माण का काम प्रकृति के हाथ मे छोडकर हमें केवल दूषित वातावरण से उसकी रक्षा करने का कार्य करना चाहिए।

कुछ लोग मनुष्य के अवगुणो को दूर करना ही चरित्र-निर्माण का अभिप्राय समझते हैं। मैं उनसे भी सहमत नही हू। मैं अवगुणो की पृथक् सत्ता नही मानता। गुणो के प्रभाव से पैदा हुए रिक्त स्थान को ही हम अवगुण कह देते है। गुणो की विद्यमानता मे वह रिक्त स्थान स्वयं भर जाता है। अवगुणो को दूर करने की चिन्ता से अवगुण दूर नही हो सकते। ऐसी चिन्ता मनुष्य के मन को बार-बार अवगुणो की ओर आकर्षित करती है, जिससे अवगुणो का एक काल्पनिक चित्र काल्पनिक होते हुए भी इतनी गहरी रेखाओ मे खिच जाता है कि उसे दूर करने मे हम असमर्थ हो जाते है।

झूठ के अवगुण से युद्ध करने का तब तक कोई अर्थ नही जब तक हम उसके स्थान पर सत्य की स्थापना नही कर देते। हिंसा को दया से और असत्य को सत्य से जीता जा सकता है। इसलिए हमे असत्य और हिंसा की काल्पनिक मूर्तियो से युद्ध करने के स्थान पर सत्य और प्रेम के बीज

मनुष्य की आत्मा मे बोने का उद्योग करना चाहिए। बीज रूप से वे गुण आत्मा मे रहते ही है—केवल प्रतिकूल अवस्थाओ मे उन्हे नष्ट होने से बचाना ही चरित्र-निर्माण का अर्थ है।

हमे आवश्यकता है चरित्र-निर्माण की, न कि चरित्र-सुधार की। सुधार का काम तो तभी होगा जब निर्माण का काम पूरा हो जाए, और निर्माण यदि सच्चे अर्थों मे हुआ है तो सुधार की आवश्यकता ही नही रहती। सत्य का सच्चा अभ्यास करने के बाद असत्य का कलक धोने की आवश्यकता ही नही रहती। जब हम प्रेम को जीवन का अग बना लेंगे तो द्वेष-भावना का अस्तित्व ही नहीर हेगा।

प्रेम मे ओतप्रोत हो जाइए, द्वेष स्वय नष्ट हो जाएगा। सत्य की साधना कीजिए, झूठ का विचार ही पैदा नही होगा। गुण सीखिए, अवगुण स्वय लुप्त हो जाएगे, जैसे प्रकाश के आने पर अधेरा भाग जाता है।

सफलता की कुञ्जी—चरित्र-निर्माण कोई ऐसी कला नही है जिसकी साधना 'स्वान्त -सुखाय' हो। चरित्र जीवन के किसी आशिक गुण का भी नाम नही है, यह तो सम्पूर्ण जीवन का नाम है। जीवन का निर्माण ही चरित्र-निर्माण की सफलता है। सफलता ही इसकी कसौटी है और सफलता के उद्देश्य से ही जीवन के सब प्रयत्न किए जाते हैं।

जिस क्षण मनुष्य कोई इच्छा करता है उसी क्षण उसके विचार-जगत् मे तथा बाह्य वातावरण मे एक प्रकम्पन-सा पैदा हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे प्रशान्त पानी मे पत्थर के गिरने से। प्रकम्पन की ये धाराए चारो ओर के वातावरण मे लहरें बनकर फैलना शुरू कर देती हैं मानो मनुष्य की इच्छा ही मूर्तिमान् होकर अपना विस्तार कर रही हो। इच्छा स्वय चेतना धारा है—जड पाषाण नही। ये प्रकम्पन अन्य प्रकम्पनो की सृष्टि करते हैं और उनमे मिलकर तथा किनारे के आघात-प्रत्याघात से विक्षुब्ध होकर आकाश-चुम्बी ज्वार-भाटे का रूप धारण कर लेते हैं। इन सचित प्रकम्पनो मे इतनी शक्ति पैदा हो जाती है कि दुनिया की बडी-बडी बाधाए भी सिर झुका देती हैं।

इसी तरह मनुष्य अपने अभीष्ट को पा लेता है। वह जो चाहता है पा लेता है। जैसा चाहता है बन जाता है। मनुष्य की इच्छा के इन प्रकम्पनो

मे ऐसा चुम्बकीय खिचाव होता है कि एक प्रकम्पन दूसरे को आकर्षित करता रहता है। दुनिया का कोई भी खिचाव अकेला नही होता। आकर्षण सदा परस्परापेक्षी होता है। आप किसी वस्तु को चाहे, इससे पूर्व उसमे आपकी चाह विद्यमान होनी चाहिए। किसी वस्तु में अपना अंश होने पर ही वह अभीष्ट बनती है 'आत्मन एव कामाय वै सर्व प्रियो भवति', अन्यथा उसने आपके मन मे उसे अपना बनाने की इच्छा ही क्यो जागरित की ? आपकी मानसिक और भावना-शक्ति आपकी अदृश्य कामना मे केन्द्रित होती है, उसके बाद अपने प्रयत्न से आप उसे प्राप्त कर लेते है।

प्रयत्न की कोई भी दिशा हो, सफलता उसी मनुष्य को मिलती है जो प्रत्येक क्षण अपने निर्माणोन्मुख विचारो मे उत्साह और जीवन भरता रहता है। कार्यक्षेत्र कोई भी हो सकता है। सफलता के साथ कार्यक्षेत्र के रूप का कोई सम्बन्ध नही है। महत्त्वपूर्ण बात यह नही है कि आपका, व्यवसाय कौन-सा है बल्कि यह है कि आप अपना कार्य कितनी लगन से करते हैं। सच्ची लगन मे निराशा का कोई स्थान नही और अक्षमता की कल्पना भी नही। अक्षमता का विचार मनुष्य की प्रगति को रोककर उसे निश्चेष्ट बनाता है। चिन्ताशील मनुष्य बहुत शीघ्र हतोत्साह होकर निर्बल हो जाता है। उसकी चिन्तातुरता उसके अविश्वासी हृदय की बीमारी है। अविश्वासी और मन्दसाहसी व्यक्ति जीवन मे सफल नही होता।

सफलता की पहली शर्त यह है कि आप अपनी असभव को सभव बनाने की क्षमता पर कभी अविश्वास न करें। विश्वास के बिना हर काम कठिन है। आपके मन का विश्वास ही आपकी मुश्किलो को आसान बना सकता है, कोई भी बाह्य शक्ति यह काम नही कर सकती। विश्वास की जलधारा के सामने बाधाओ की चट्टानें टूटकर बिखर जाती हैं।

जीवन का मार्ग बाधाओ की चट्टानो से पटा पडा है। इन बाधाओ को ही सीढी बनाकर चढने वाला व्यक्ति सफलता के शिखर पर पहुच पाता है। उनसे घबराकर बैठनेवाला व्यक्ति कभी आगे नही बढ सकेगा। सफलता का दीपक आपके अन्त करण की ज्योति से ही जलेगा, आपको अपने हाथो उसे जलाना होगा। अनुकूल अवसर का सकेत भी आपका अन्त करण ही आपको देगा। उस अवसर की प्रतीक्षा मत कीजिए। वह स्वय नही

आएगा। अवसर की प्रतीक्षा करना निराधार सपने लेने के समान मिथ्या है। यदि आप दैव, भाग्य या अवसर पर ही भरोसा रखते हैं तो आपका जीवन असफलताओ और मानसिक दुर्बलताओ से भर जाएगा। प्रत्येक दैवी घटना के पीछे मनुष्य का हाथ होता है। सफलता सयोग से नही, पुरुषार्थ से मिलती है। बीते समय पर आसू बहाना कायरो का काम है। परिस्थितियो को कोसना अपने को धोखा देना है। इस रोने-धोने मे शक्ति का अपव्यय मत कीजिए। हर नया दिन नई आशाओ के साथ उदय होता है। हर असफलता नई सफलता के मार्ग को आसान बनाती है। कोई भी असफलता इतनी बडी नही कि वह आपकी सफलता पाने की योग्यता को छोटी कर दे। आपका जीवन वह दीपक नही जो हवा के झोको से बुझ जाए। यह तो वह ज्वाला है जो आधियो से लिपटकर आसमान को ललकारती है।

आप अपने प्रतिदिन के कार्यों की असफलता से ही अपने को क्यो तोलते हैं ? यह तो आपकी शिक्षा का समय है। जीवन के हर क्षण को अन्तिम परीक्षा का क्षण समझना भूल है। आपको जिस शिखर पर चढना है, वह दूर है। जो कुछ आप कर रहे हैं वही तक आपका कार्यक्षेत्र सीमित नही है। जीवन-यात्रा के हर पड़ाव को लक्ष्य मत समझिए। इस यात्रा मे कोई मुसाफिर सदा एक ही चाल से नही चल सकता। आज आपके कदम भारी हैं तो कल हल्के हो जाएगे। याद रखिए—आप दूर के यात्री हैं। आपको ऊचा चढना है। रास्ते की थकान को क्षणिक थकान ही समझिए। उसे कठिन बाधा समझकर बैठना पागलपन है। निरुत्साहित होने मात्र से आपके मार्ग की कठिनाइया आसान नही होगी। उत्साह बनाए रखिए। उत्साही मनुष्य थकता भी है, ठोकरें भी खाता है, किन्तु बढता ही जाता है। ऊचे उद्देश्यो का आकर्षण उसकी नसो मे नया रक्त भर देता है, नई शक्ति का सचार होता है और वह फिर परिवर्धित उत्साह के साथ अपनी मजिल की ओर बढता है।

विजय और सफलता की चाह सबको है, किन्तु उसकी कीमत अदा करनेवाले थोडे ही हैं। सब लोग बिना मूल्य सफलता पाने को उतावले हो जाते हैं। यह अधीरता विनाशक होती है। जीवन की यात्रा स्थिर बुद्धि और स्थिर कदमो से तय करनी चाहिए। अधीरता प्राय आत्म-

विश्वास की न्यूनता से होती है। विश्वास की पूर्णता मनुष्य को स्थिरता सिखलाती है। आप अपनी क्षमता का जो मूल्य बना लेंगे, दुनिया भी आपको उसी मूल्य से जाचेगी। स्थितप्रज्ञ और सयत व्यक्ति अपने सम्मान को ससार की दृष्टि मे ऊचा रखता है। आत्मगौरव की इस भावना की झलक उसके नित्यप्रति के व्यवहार मे भी स्पष्ट दिखाई देती है। उसका गौरवान्वित व्यक्तित्व ससार के लिए आकर्षण का विषय बन जाता है। दुनिया के लोग ऊचे व्यक्तित्व की ओर खिचे आते हैं। यही यशस्वी मनुष्यो की उज्ज्वल कीर्ति का रहस्य है।

सभी व्यक्ति जगत् के क्रिया-कलापो को अपने मनोभावो के अनुकूल ग्रहण करते हैं। यही कारण है कि एक चित्रकार आकाश मे तैरते बादलों और रम्य प्रदेशो का सौन्दर्य देखकर मुग्ध होता है। कवि के लिए प्रकृति का हर रूप उसकी कविता का प्रतीक हो जाता है। निराश व्यक्ति के हृदय मे वही दृश्य अधकार और उदासी की भावनाए जगाते हैं। ऐसे विकृतमना व्यक्ति की आत्मा उसके शरीर मे कुचली और दबी-सी पडी रहती है। बाधाओ और विघ्नो मे हमे नया उत्साह और नई उमग मिलनी चाहिए। आपके विघ्न अभिशाप नही वरदान हैं। उन विघ्नो के रूप मे प्रकृति हमे उल्टे रास्ते पर न चलने के लिए चेतावनी देती है। हमे उस चेतावनी के लिए कृतज्ञ होना चाहिए।

कमर कसकर जीवन-सग्राम मे युद्ध करने को तैयार हो जाइए। जो उपकरण आपके हाथ मे हैं उनके प्रयोग के लिए अपनी शक्ति को केन्द्रित कर दीजिए। जो परिस्थितिया आपके चारो ओर है उनका अधिक से अधिक उपयोग करने के लिए दत्तचित्त हो जाइए। आपका कार्य-क्षेत्र ही आपका देवालय है। हाथ के काम को पूरे मन से, पूरी लगन से कीजिए। अपने उपयोगी कार्य को दिलचस्पी के साथ करना ही सबसे बडा मनोरजन है। इस कार्य द्वारा ही आप अपने को ससार मे व्यक्त कर सकते हैं। यह अभिव्यक्ति ही मनुष्य का विकास करती है।

इस व्यापक विश्व मे प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान है। जिसने अपने योग्य स्थान का ज्ञान पा लिया, वह ससार की लहरो के साथ खेलता हुआ, तैरता हुआ पार हो जाएगा और उसका जीवन ससार के लिए उपयोगी

सिद्ध होगा। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी योग्यता को परखकर अपने अनुकूल कार्य का चुनाव कर ले। जिस काम मे उसके गुणो का सबसे अधिक प्रदर्शन हो सके वही काम उसके योग्य है। एक बार अपना कार्यक्षेत्र चुनकर उसे सफल बनाने के लिए तन-मन से लग जाना चाहिए। प्रत्येक पुरस्कार के लिए हमे मूल्य चुकाना होगा। हम जितनी कुर्बानी करेंगे उतना ही पाएगे। जहा कुर्बानी मे आनन्द आए वही हमारा स्थान है। आनन्द-प्रेरित काम ही मनुष्य का विकास करता है। आनन्द से ही सब प्राणियो का जन्म होता है और आनन्द मे ही विलोप।

कभी इस भ्रम मे मत पडिए कि आप कभी किसी जादू, चमत्कार या दैवी कृपा से किसी काम मे सफलता पा सकेंगे। यश और सफलता के मार्ग मे कोई पगडण्डी नही है। रास्ता काटकर थोडे समय मे आप वहा तक नही पहुच सकते। यह भी सच नही है कि थोडे ईश्वरीय कृपापात्र व्यक्ति ही सफलता के शिखर पर पहुच सकते हैं। ईश्वर की कृपा के पात्र सभी व्यक्ति होते हैं। उसका किसी पर अनुचित पक्षपात नही है। शिखर पर पहुचने के लिए मनुष्य को साधनो की आवश्यकता है, उन्हे उसे स्वय जुटाना पडता है।

सपूर्ण साधनो के होते हुए भी यदि आप सफलता के शिखर पर नही पहुच पाते, तो भी दैव को कोसना उचित नही है। सच्चे हृदय से यात्रा करने मे जो आनन्द आता है वही आनन्द शिखर पर पहुचने मे है। सफलता किसी निश्चित स्थल का नाम नही। यह तो केवल मन की अवस्था का नाम है। जिसकी मानसिक अवस्था स्वस्थ और आनन्दमयी है, वह असफलता निरानन्द हो ही कैसे सकता है? स्वस्थचित्त व्यक्ति कभी क्षणिक शोक-मोह आदि विकारो से प्रताडित नही होता। असफलता और निराशा उसके मानसिक सन्तुलन को कभी विचलित नही करती, उसे निश्चेष्ट नही बनाती।

विचार और ध्येय—प्रत्येक गतिशील वस्तु का कोई ध्येय अवश्य होता है। नदी का प्रवाह समुद्र मे लीन होकर विश्रान्ति पाता है। विचारो की धारा का भी कोई ध्येय अवश्य होना चाहिए। निरुद्देश्य विचारो की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। विचार करना मनुष्य के मस्तिष्क का धर्म

है। कोई न कोई विचार मनुष्य के मन मे उठता ही रहता है। किन्तु प्रत्येक विचार उपयोगी नही होता। उसे उपयोगी बनाने के लिए विचारो का केन्द्र बना लेना आवश्यक है। अन्यथा वह व्यर्थ की कल्पनाओ मे घूमता रहेगा। इन कल्पनाओ मे मनुष्य की विचारशक्ति ही नष्ट नही होगी बल्कि वह जीवन के मार्ग मे भी भटक जाएगा। विचारो का असयम उसे विषयी और कामान्ध बना देगा। अत चरित्र-निर्माण की यह बहुत महत्वपूर्ण शर्त है कि विचारो को एक लक्ष्य पर केन्द्रित किया जाए।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना ध्येय निश्चित करते हुए अपने साधन और अपनी परिस्थितियो की अनुकूलता का ध्यान रख लेना चाहिए। ध्येय के चुनाव से मेरा यह अभिप्राय नही कि मनुष्य जीवन की धारा को सकरी दीवारो मे बाधकर ही एक दिशा मे ले चले, उस तरह जैसे नदी के पानी को नहर मे बाधकर बिजली पैदा करने के लिए एक ही दिशा मे ले जाया जाता है। मनुष्य-जीवन की धारा को इस तरह दीवारो मे बाधा नही जा सकता। यह बन्धन आत्मा के स्वभाव के प्रतिकूल है। मनुष्य की आत्मा उन्मुख रहना चाहती है। स्वतन्त्रता उसका धर्म है। अत एक ही ध्येय का निश्चय करते हुए हमे स्मरण रखना चाहिए कि हमारी आत्मा पिजरे मे कैद नही हो सकती।

हर आदमी को पर्वत के शिखर पर पहुचने पर ध्येय नही बनाना चाहिए। दूर से सुन्दर और ऊची दिखनेवाली हर चीज वस्तुत उतनी सुन्दर नहीं होती। स्वर्ग आसमान मे ही नही है। हर घर और हर मनुष्य का मन ही स्वर्ग बन सकता है। स्वप्न लेना बुरा नही किंतु हर स्वप्न को सच्चा बनाने के लिए पागल होना जीवन की शक्ति को नष्ट कर देता है।

भविष्य की आशाओ पर वर्तमान के छोटे-छोटे आनन्दो की कुर्बानी करना उचित नही है। ऊचा ध्येय बनाकर जीवन के छोटे-छोटे सुखो की उपेक्षा करने से हम अपने कर्तव्यो की उपेक्षा करना शुरू कर देंगे। ध्येय कितना ही ऊचा हो—हमे अपने वर्तमान कर्तव्यो के पालन मे शिथिलता नही करनी चाहिए।

जीवन की सफलता ऊचे ध्येय तक पहुचने मे ही नही बल्कि मार्ग के कर्तव्यो को पूरा करते हुए शिखर तक पहुचने मे है। महत्वपूर्ण बात यह

नही है कि हम कौन-सा कार्य करते हैं, या वह कितना महान है बल्कि यह कि हम किमी भी काम को किस रीति से करते है। उपयोगी कामो में कोई भी काम छोटा नही है। काम की महत्ता या लघुता का माप उसकी उपयोगिता से ही जाचना चाहिए। सब काम प्राय एक-से महत्त्व के होते है। मनुष्य का चरित्र उसके ध्येय की ऊचाई से नही, बल्कि उस ध्येय को पाने के तरीके मे ही प्रकट होता है। ऊंचा ध्येय पाने के लिए मनुष्य यदि अधम उपायो का प्रयोग करता हैं तो ध्येय की ऊचाई ही उसके चरित्र [illegible] ी वचा सकती।